ISSN 2229-6328
भाग षट्त्रिंश चतुर्थ खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः षट्त्रिंश चतुर्थ खण्ड (वि. सं. २०७८)

गोपथ ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु **डा. वाचस्पति मिश्र**

मूल्याङ्कनकर्त्ता

डा. दुर्गाप्रसाद मिश्र
मेरठ कालेज, मेरठ

प्रो. विनय विद्यालङ्कार
गुरुकुल कांगड़ी (समविश्वविद्यालय), हरिद्वार

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अक्टू.- दिस. २०२१ **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: षट्त्रिंश, चतुर्थ खण्ड

अक्टू.-दिस.२०२१

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते

• **युगाब्द** ५१२२

• **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

वेदों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्यों को समझने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थ परम सहायक हैं। हेतु, निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, विधिज्ञापन तथा ऐतिहासिक घटनाओं के द्वारा वेदों के निगूढ़ रहस्यों को अनावृत करने में ब्राह्मण ग्रन्थों की भूमिका अप्रतिम है। पावमानी के विगत कई अङ्कों में सुधी पाठक ब्राह्मण ग्रन्थों के महत्त्व से अवश्य परिचित हुए होंगे। यह अङ्क गोपथ ब्राह्मण के ज्ञान भण्डार से कुछ प्रकाशपुञ्ज लेकर वेदप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है।

गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से सम्बद्ध उपलब्ध एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ है। अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से सौभाग्य या दुर्भाग्य से केवल दो शाखाएँ- शौनक एवं पैप्पलाद शाखा ही आज हमें उपलब्ध हैं। अन्य सात शाखाएँ हमारे प्रमाद एवं अकर्मण्यता के साथ-साथ ही विदेशी कुचक्रों से नष्ट हो गईं, हम उनमें निहित विपुल ज्ञान-विज्ञान से वञ्चित हो गये। अथर्ववेदीय जो साहित्य अवशिष्ट है, उससे भी देश के कुछ गिने चुने वेद मनीषी ही परिचित हैं। राष्ट्र के भावी कर्णधार इस ज्ञान परम्परा से इसकी महत्ता से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। ऋषियों का आदेश था, ज्ञान के उपासकों को व्याकरण निरुक्त आदि छह अङ्गों सहित चारों वेदों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। अथर्ववेद के विषय में शास्त्रों का कथन है कि जिस राष्ट्र में अथर्ववेदज्ञ विद्वान् निवास करते

हैं, वह राष्ट्र निरुपद्रव होकर उन्नति करता है-

यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।

निवसत्यपि तद्राष्ट्रं वर्धते निरुपद्रवम्॥ अथर्वपरिशिष्ट ४.६.१

अथर्ववेद में विविध ज्ञान-विज्ञान के सूत्र समाविष्ट हैं, इनका उद्घाटन गोपथब्राह्मण में किया हुआ है।

गोपथ ऋषि विरचित होने से यह ब्राह्मण गोपथ-ब्राह्मण कहलाता है। वैदिक साहित्य में गो शब्द, पृथिवी, भूमि, किरण, इन्द्रिय, गो, दुग्ध, दधि, सुख इत्यादि अनेक अर्थों का वाचक है, इनकी प्राप्ति का पथ-मार्ग गोपथ है। गोपथ ब्राह्मण भौतिक राज्यादि सुख प्राप्ति का पथ प्रदर्शक होने के साथ-साथ अमृतत्व का भी पथ प्रशस्त करने वाला है। गोपथ ब्राह्मण प्रारम्भ में ही ओङ्कार के मर्म को स्पष्ट करते हुए उसके व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालता है। यहाँ ओम् को चतुर्मात्र प्रतिपादित कर चतुष्पाद् आत्मा से उसका सादृश्य उपस्थापित किया गया है। इसमें ओङ्कार से ही सृष्टि उत्पत्ति भी वर्णित है। ओङ्कार से सृष्टि उत्पत्ति कैसे हुई? यह एक गहन शोध का विषय है। आधुनिक विज्ञान भी अपने बिग बैंग सिद्धान्त की खोज के साथ-साथ धीरे-धीरे इन सिद्धान्तों की ओर अग्रसर हो रहा है।

द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी की महिमा तथा ब्रह्मचारी के नियमों एवं कर्तव्यों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। ब्रह्मचारी अपने तपोबल से, जितेन्द्रियता से, परिश्रम से, कर्तव्यनिष्ठा से, तीनों लोकों का पालन करता है। राजा भी ब्रह्मचर्य से राष्ट्र की रक्षा करता है। ब्रह्मचर्य के बल से देवता लोग मृत्यु को भी जीतकर अमर हो जाते हैं। गोपथब्राह्मण का ब्रह्मचर्य विषयक सन्देश विश्व के विद्यार्थियों के जीवन को सुसंस्कृत परिष्कृत कर एक दिव्यता एवं भव्यता सम्पन्न समाज बनाने में परम सहयोगी हो सकता है।

यहाँ विवृत यज्ञविज्ञान विषयक अनेक सिद्धान्त संसार को त्रितापों से मुक्त कर सकते हैं। वैदिक परम्परा में यज्ञ सभी के लिए अनिवार्य कर्तव्य है। यज्ञानुष्ठान प्रकृति में सामञ्जस्य स्थापित कर समस्त अभीष्ट सुख-शान्ति प्रदान कर सकता है। यज्ञानुष्ठान से पूर्व हम सभी यज्ञ के लिए दीक्षित होते हैं। दीक्षित की व्युत्पत्ति बताते हुए गोपथ ऋषि लिखते हैं- जो श्रेष्ठ बुद्धि में स्थित है, वह व्यक्ति दीक्षित है। हम सभी दीक्षित होकर श्रेष्ठ बुद्धि सम्पन्न होकर मरण अर्थात् छिद्ररहित दोषरहित होकर यज्ञीय कर्म करें तो यह संसार ही स्वर्ग बन जायेगा तथा आतंकवाद, साम्प्रदायिकता, युद्धविभीषिका तथा सभी प्रकार के दुःख दारिद्र्य नष्ट हो जायेंगे।

गोपथब्राह्मण के ज्योतिर्विज्ञान विषयक अनेक सिद्धान्त वैज्ञानिक को भी चमत्कृत करने वाले हैं। गोपथ ब्राह्मण उत्तरभाग ४/१० में स्पष्ट लिखा है- पृथिवी घूमती है, सूर्य कभी अस्त नहीं होता, घूमती हुई पृथिवी की ओट में सूर्य छिप जाता है- **न कदाचनास्तमयति नोदयति...**।

आधुनिक वैज्ञानिक युग प्रारम्भ होने से हजारों वर्ष पहले हमारे तत्त्वदर्शी पूर्वजों द्वारा अनुभूत विज्ञान पर हम लोग गर्व कर अपने आत्मगौरव को बढ़ायें, तभी हम विश्वगुरु पद पर प्रतिष्ठित हो सकते हैं।

गोपथ ब्राह्मण अनेक शिक्षाप्रद सूक्तियों द्वारा योग्यता, सत्यनिष्ठता आदि जीवनोन्नायक तत्त्वों एवं पारिवारिक, सामाजिक दायित्वों का बोध कराता है। गोपथ का कथन है- ऋत्विजों को तेजस्वी, सत्यनिष्ठ एवं योग्य होना चाहिए नही तो यजमान वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे कच्चे मिट्टी के घड़े में पानी भर देने से घड़ा नष्ट हो जाता है- **यथा मृत्पात्रम् उदक आसिक्ते नृर्मृज्येत एवं यजमाना...।**

आज हमारे पितर लोग परिवारों से बहिष्कृत तिरस्कृत हो वृद्धाश्रमों में रहने के लिए विवश हो विविध कष्ट भोग रहे हैं, ऐसे पितरों

के सम्मान न करने वालों को गोपथकार कह रहे हैं- बचपन हमारा पितरों पर आश्रित होकर पला बढ़ा, अब हम योग्य हो गये, हमारा दायित्व है कि हम पितरों का आश्रय बनें, उनकी सेवा शुश्रूषा करें- **पूर्वे वयसि पुत्रा पितरमुपजीवन्ति उपोत्तमे वयसि पुत्रान् पितरोपजीवन्ति य एवं वेद...** (गो.पू. ४/६)।

इस प्रकार गोपथ ब्राह्मण का एक-एक वचन मानव जीवन तथा समाज का कायाकल्प करने में सक्षम है। आवश्यकता है अपने ऋषियों के इन ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार एवं अनुपालन की। आप सभी के सहयोग से स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान सतत् इस दिशा में अग्रसर है। विश्वकल्याण कारक वैदिक साहित्य का स्वाध्याय एवं प्रवचन कर हम सभी इस दिव्य परम्परा के संवाहक एवं सम्पोषक बनें।

इन्हीं कामनाओं के साथ...

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

अथाचमनम्

डा० रामनारायण शास्त्री[१]

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम। ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥[२]

ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के प्राचीनतम और प्रामाणिक व्याख्यान हैं, इसमें प्राचीन, अर्वाचीन, प्राच्य-पाश्चात्य किसी भी विद्वान् की कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। अथर्ववेद के व्याख्यान के रूप में सम्प्रति हमें एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ गोपथब्राह्मण प्राप्त होता है। इसी ब्राह्मण की एक कण्डिका को आधार बनाकर हम आचमन के विषय में आपके साथ कुछ विचार-विमर्श का प्रयास कर रहे हैं।

आपः= जल पवित्र है और अमृत है, इसीलिए किसी भी कार्य के प्रारम्भ में विशेषकर शुभकार्य में; यज्ञीय कार्य में व्यक्ति सर्वप्रथम जल ग्रहण करता है अर्थात् आचमन करता है। यजुर्वेद के व्याख्यानग्रन्थ माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण का प्रारम्भ व्रतविधिमूलक आचमन क्रिया से ही होता है- **व्रतमुपैष्यन् अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशति। तद् यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन पूतिरन्तरतो मेध्या वा आपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति पवित्रं वा**

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, सिरोही, राजस्थान**

[२] ऋग्वेदः १०.९.७॥ अथर्ववेदः १.६.३

आपः पवित्रो भूत्वा व्रतमुपायानीति तस्माद् वा आप उपस्पृशति।[३]

शतपथ ब्राह्मण आचमन का एक प्रयोजन बाह्य और आन्तरिक शुद्धि कहकर आगे बढ़ता है परन्तु अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण आचमन की संख्या और प्रत्येक आचमन का पृथक्-पृथक् प्रयोजन बताते हुए यह तथ्य बलपूर्वक कहता है कि जल अमृत है। अथर्ववेदीय पैप्पलाद संहिता की "**आपो गर्भं जनयन्तीः...**"[४] इस ऋचा को उद्धृत करते हुए गोपथ ब्राह्मण कहता है कि पुरुष आपः का गर्भ है। वह यज्ञ है। जलों से प्राप्त किया जाता हुआ यज्ञ = पुरुष विस्तृत होता है, विस्तार को प्राप्त होता है अर्थात् बढ़ता है- **अपां गर्भः पुरुषः। स यज्ञः। अद्भिर्यज्ञः प्रणीयमान प्राङ्तायते।**[५] **पुरुष यज्ञ है। पुरुष ही यज्ञः है, पुरुषो यज्ञः।**[६] **पुरुषो वै यज्ञः।**[७] **पुरुषो वाव यज्ञः।** यह वाक्य वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र उपलब्ध होता है। जल से बढ़ता है इसलिए सर्वप्रथम वह आचमन करने योग्य जल आहरण करता है, ग्रहण करता है, आहार करता है और वह जो आचमन करता है वह तीन बार आचमन करता है- **तस्मादाचमनीयं पूर्वमाहारयति। स यदाचामति त्रिराचामति।**[८] तीन बार आचमन करता

---

[३] मा. श. ब्रा. १,१,१,१ ॥ तु. का.श.ब्रा. २,१,१९ ॥

[४] गोपथ ब्राह्मण १,१,३९ ॥

[५] आपो गर्भं जनयन्ती... अथर्व. पै.सं. ४,१,१। यह ऋचा गर्भ के स्थान पर वत्स शब्द के परिवर्तन पर

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।

तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ अथर्व.शौ.सं. ४,२,८।

[६] मा.श.ब्रा. १,३,२,१। ३,१,४,२३। का.श.ब्रा. तु. १,३,१,१ ॥

[७] कौ.ब्रा. १७.७। २५.१२। २८.९। मा.श.ब्रा. ३,५,२,१। गो.ब्रा. १,४,२४। २,६,१२। तै.ब्रा. ३,८,२३,१। तु. का.श.ब्रा. २,३,१,१ ॥

[८] गोपथ ब्राह्मण १,१,३९ ॥

है अतः '(अ) **अमृतमसि** (इ) **अमृतोपस्तरणमसि** (उ) **अमृताय त्वोपस्तृणामि**"[९] इन वाक्यों को बोलकर अथवा विचार कर हाथ में जल लेकर "**जीवा स्थः**"[१०] सूक्त से आचमन करता है। इस सूक्त का देवता आपः है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि "**अमृतमसि**" वाक्यस्मरणपूर्वक हाथ में उदक लेकर अथर्ववेदीय "**जीवा स्थ**" आदि वाले सम्पूर्ण **आपः** सूक्त का पाठकर एक प्रथम आचमन करता है। "**अमृतोपस्तरणमसि**" वाक्यस्मरणपूर्वक द्वितीय बार हाथ में जल लेकर पुनः सम्पूर्ण सूक्त का पाठकर द्वितीय आचमन करता है। इसी प्रकार "**अमृताय त्वोपस्तृणामि**" वाक्य स्मरण के साथ जल लेकर आपः सूक्त को पढकर तृतीय आचमन करता है। वह तीन बार आचमन करता है तीनों बार पृथक्-पृथक् वाक्यस्मरण के साथ जल ग्रहण करता है, क्योंकि तीनों आचमनों से पृथक्-पृथक् लाभ प्राप्त करता है; पृथक्-पृथक् पदार्थों को अपने शरीर में, जीवन के क्रियाकलापों में, जीवनव्यवहार में प्राप्त करता है, बढ़ाता है, जीवन के साथ संयुक्त करता है। उन पदार्थों की विशेषताओं को अपने शरीर और व्यवहार के साथ सम्बद्ध करता है।

वह जो पहला आचमन करता है, उसके द्वारा इन सात प्राणों को अपने में (अपने शरीर में) धारण करता है या बढ़ाता है। ये जो शरीर के बाहर की मात्राएँ हैं उनको (स्वयं में प्राप्त करता है) जैसे अग्नि को, वायु

---

[९] गोपथ ब्राह्मण १,१,३९ ॥

[१०] जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१ ॥
उपजीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥२ ॥
संजीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥३ ॥
जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥४ ॥ अथर्ववेद १९.६९ ॥

को, आदित्य को, चन्द्रमा को, आपः= जलों को पशुओं को और अन्य प्रजाओं को इसमें आप्यायित करता है क्योंकि **आपः**= जल अमृत है- **स यत् पूर्वमाचामति सप्त प्राणांस्तानेतेनास्मिन्नाप्यापयति। या हि इमा बाह्याः शरीराद् मात्रास्तद् यथैतदग्निं वायुमादित्यं चन्द्रमसमपः पशूनन्यांश्च प्रजास्तानेतेनास्मिन्नाप्यापयति। आपोऽमृतम्।**[११] प्राण सात प्रकार का है अथवा प्राण के सात भेद हैं जो इस प्रकार हैं- १.ऊर्ध्व प्राण, २.प्रौढ प्राण, ३.अभ्यूढ प्राण, ४.विभू प्राण, ५.योनिप्राण, ६.प्रियप्राण, ७.अपरिमित प्राण। ये सातों प्राण 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सात पदार्थ अथवा मात्राओं में रहते हैं। ऊर्ध्वप्राण अग्नि में रहता है, प्रौढप्राण आदित्य में रहता है अभ्यूढप्राण चन्द्रमा में रहता है विभूप्राण पवमान = वायु में रहता है, योनिप्राण आपः = जल में रहता है, प्रियप्राण पशुओं में रहता है और अपरिमित प्राण प्रजा में रहता है। इसी कारण वैदिक साहित्य में आधाराधेय अथवा तादात्म्यभाव के कारण इन ऊर्ध्व आदि प्राणों को अग्निप्राण आदि के नाम से भी कहा व जाना जाता है। **प्राणो वा अग्निः।**[१२] **तदग्निर्वै प्राणः।**[१३] **प्राणा अग्निः।**[१४] **प्राणोऽमृतं तद्ध्यग्ने रूपम्।**[१५] **उद्यन्नु खलु वा आदित्यः सर्वाणि भूतानि प्राणयति तस्मादेनं प्राण इत्याचक्षते।**[१६] **तदसौ वा आदित्यः प्राणः।**[१७] **आदित्यो वै प्राणः।**[१८]

---

[११] गो.ब्रा. १,१,३६॥

[१२] मा.श.ब्रा. २,२,२,१५। ९,५,१,६८॥

[१३] जै.उप. ४,२२,११॥

[१४] मा.श.ब्रा. ६,३,१,२१। ६,८,२,१०॥

[१५] मा.श.ब्रा. १०,२,६,१८॥

[१६] ऐ.ब्रा. ५,५,६॥

चन्द्रमा वै प्राणः।[१९] **प्राणो वै पवमानः।**[२०] **यः स प्राणोऽयमेव स वायुर्योऽयं पवते।**[२१] **प्राणो वै वायुः।**[२२] **प्राणा वा आपः।**[२३] **आपो वै प्राणः।**[२४] **प्राणाः पशवः।**[२५] **तस्मादु प्राणाः पशवः।**[२६] **प्राणा मनुष्याः।**[२७] अग्निवायु आदि सात बाह्य पदार्थ प्राण हैं इस तथ्य को साक्षाद् अथर्ववेद स्पष्ट रूप में कहता है।

तस्य व्रात्यस्य सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः। योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ॥१॥ योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥२॥ योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥३॥ योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूनीमायं स पवमानः ॥४॥ योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥५॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः ॥६॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः ॥७॥[२८] ब्रह्माण्ड की मात्राओं (पदार्थों) का पिण्ड के अवयवों के

---

[१७] जै.उप. ४,२२,९॥

[१८] जै.उप. ४,२२,११॥

[१९] जै.उप. ४,२२,११॥

[२०] मा.श.ब्रा. २,२,१,६॥ का.श.ब्रा. १,२,१,७॥

[२१] मा.श.ब्रा. १०,३,३,७॥

[२२] कौ.ब्रा. ५,८। १३,५। ३०,५॥ मा.श.ब्रा. ४,४,१,१५। ६,२,२,६॥ गो.ब्रा. २,१,२६। तु.ऐ.ब्रा. २,१,६॥

[२३] तै.ब्रा. ३,२,५,२१। ता.ब्रा. ९,९,४॥

[२४] मा.श.ब्रा. ३,८,२,४॥

[२५] तै.ब्रा. ३,२,८,९॥

[२६] मा.श.ब्रा. ७,५,२,६॥

[२७] मा.श.ब्रा. १४,४,३,१३॥

[२८] अथर्ववेद १५,१५॥ सम्पूर्णसूक्त

साथ सम्बन्ध दर्शाते हुए अथर्ववेदीय १९ ।५३ वें सूक्त में प्रार्थना की गई है कि ये मात्रा अथवा देव मेरे पिण्डावयवों में धारण हों। ब्रह्माण्ड के सात पदार्थों में (सात देवों में) जो सात प्राण अलग-अलग बिखरे हुए हैं उन सबको वह इस प्रथम आचमन के द्वारा अपने पिण्ड में प्राप्त करता है। यह प्रथम आचमन का प्रयोजन स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

वह जो दूसरा आचमन करता है उसके द्वारा इन सात अपानों को पिण्ड में धारण करता है बढ़ाता है। ये जो शरीर से बाहर की मात्रा हैं उनको (पिण्ड में प्राप्त करता है) जैसे- पौर्णमासी को, अष्टमी को, अमावस्या को, श्रद्धा को, दीक्षा को, यज्ञ को और दक्षिणा को इसमें आप्यायित करता है, क्योंकि आपः = जल अमृत है- **स यद् द्वितीयमाचामति सप्तापानांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति। या ह्येमा बाह्याः शरीराद् मात्रास्तद् यथैतत् पौर्णमासीमष्टकाममावास्यां श्रद्धां दीक्षां यज्ञं दक्षिणास्तानेतेनास्मिन् आप्याययति। आपोऽमृतम्।**[२९] अपान सात हैं - १.पौर्णमासी, २.अष्टमी, ३.अमावस्या, ४.श्रद्धा, ५.दीक्षा, ६.यज्ञ, ७.दक्षिणा। ये सात अपान पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सात पदार्थ अथवा मात्राओं में रहते हैं और ये अपान तत् तत् स्थानों या मात्राओं में रहने के कारण तत् तत् (उन-उन) नामों से ही अभिहित किये जाते हैं। जैसे- प्रथम अपान पौर्णमासी मात्रास्थ होने से पौर्णमासी नाम से जाना जाता है। द्वितीय अपान अष्टकास्थ होने के कारण अष्टका नाम से अभिहित होता है। तृतीय अपान अमावस्यास्थ होने से अमावस्या नाम से ही कहा जाता है। चतुर्थ अपान श्रद्धास्थ होने से श्रद्धा अपान के नाम से ही जाना जाता है। पञ्चमपान दीक्षास्थ होने से दीक्षा से ही कहा जाता है। षष्ठ

---

[२९] गोपथब्राह्मण १,१,३९ ॥

अपान यज्ञ में स्थित होने के कारण यज्ञ नाम से अभिहित होता है और सप्तम अपान दक्षिणाओं में रहने के कारण दक्षिणा नाम से ही कहा जाता है। पौर्णमासी आदि पिण्ड बाह्य मात्राएँ ही सात अपान हैं, इसका स्पष्ट कथन अथर्ववेद में प्राप्त है- **योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी**॥१॥ **योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका**॥२॥ **योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावस्या**॥३॥ **योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा**॥४॥ **योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा**॥५॥ **योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः**॥६॥ **योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः**॥७॥[३०]

यह जो तीसरा आचमन करता है उसके द्वारा इन सात व्यानों को स्वयं में, अपने शरीर में, पिण्ड में धारण करता है, बढ़ाता है। ये जो शरीर से बाहर की मात्राएँ हैं उनको (पिण्ड में बढ़ाता है), जैसे पृथिवी को, अन्तरिक्ष को, द्यौ को, नक्षत्रों को, ऋतुओं को, आर्तवों को और संवत्सरों को इस आचमन के द्वारा पिण्ड में बढ़ाता है आप्यायित करता है; क्योंकि आपः अमृत है - **स यत् तृतीयामाचामति सप्त व्यानांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति। या ह्येमा बाह्याः शरीराद् मात्रास्तद् यथैतद् पृथिवीमन्तरिक्षं दिवं नक्षत्राण्यृतूनार्तवान् संवत्सरांस्तानेतेनास्मिन्नाप्याययति। आपोऽमृतम्।**[३१] व्यान सात हैं - १.पृथिवी, २.अन्तरिक्ष, ३.द्यौ, ४.नक्षत्र, ५.ऋतुएँ, ६.आर्तव (ऋतुसम्बद्ध) और ७.संवत्सर। ये सात व्यान पिण्ड व ब्रह्माण्ड के सात पदार्थ या मात्राओं में रहते हैं और ये व्यान तत् तत् स्थानों में रहने के कारण तत् तत् (उन उन) नामों से ही व्यवहृत होते हैं या किये जाते हैं।

---

[३०] अथर्ववेद १५,१६। सम्पूर्णसूक्त

[३१] गोपथब्राह्मण १,१,३९॥

जैसे प्रथम व्यान पृथिवी मात्रास्थ होने से पृथिवी नाम से ही व्यवहृत किया जाता है। द्वितीय व्यान अन्तरिक्षस्थ होने के कारण अन्तरिक्ष नाम से ही व्यवहृत होता है। तृतीय व्यान द्यौ में रहने के कारण द्यौ नाम से व्यवहार में आता है। चतुर्थ अपान नक्षत्रों में रहने से नक्षत्र नाम से व्यवहार में प्रयोग किया जाता है। पञ्चम व्यान ऋतुस्थ होने के कारण ऋतु नाम से ही प्रयुक्त होता है। षष्ठ व्यान आर्तवस्थ होने के कारण आर्तव नाम से व्यवहार में आता है और सप्तम व्यान संवत्सरस्थ होने के कारण संवत्सर नाम से व्यवहृत होता है। पृथिव्यादि सात बाह्य मात्रा या पदार्थ (शरीरस्थ होने पर भी; क्योंकि शरीर बना ही इनसे है, शरीर (पिण्ड) से बाहर ब्रह्माण्ड में स्पष्ट दिखाई देने के कारण) सात व्यान हैं यह तथ्य अथर्ववेद में स्पष्ट शब्दों में उपलब्ध है। **योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः** ॥१॥ **योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदन्तरिक्षम्** ॥२॥ **योऽस्य तृतीयो व्यानः सा द्यौ** ॥३॥ **योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि** ॥४॥ **योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त ऋतवः** ॥५॥ **योऽस्य षष्ठो व्यानस्त आर्तवाः** ॥६॥ **योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः** ॥७॥[३२] इस तरह तीन आचमनों के द्वारा वह प्राण अपान व्यानों को अपने शरीर में प्राप्त करता है बढ़ाता है यह आचमन का प्रमुख प्रयोजन, लाभ है।

प्रायः हम जीवन व्यवहार में देखते हैं अनुभव करते हैं कि अस्वस्थ होने से वैद्यराज कहते हैं कि बन्धुवर! इनके शरीर में पानी की कमी हो गई है, इनके शरीर में लोहे की कमी हो गई है, इसलिए यह पीलिया हो गया है इत्यादि। शरीर में स्वर्ण की कमी होने के कारण हृदयाघात रोग होता है ऐसा भी सुना है। जो ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में चाहिए,

---

[३२] अथर्ववेद १५,१७। सम्पूर्ण सूक्त

मात्रा तो पिण्ड के आकार प्रकार के अनुरूप ही होगी। प्राण अपान व्यान को अनुरूप मात्रा में आचमन के द्वारा अपने शरीर में प्राप्त करना तो प्रमुख प्रयोजन है, साथ ही आनुषङ्गिक = गौण प्रयोजन भी गोपथ ब्राह्मण हमारे समक्ष उपस्थित करता है।

किसी भी शुभ कार्य से, यज्ञ से पूर्व आचमन करता है और तीन बार आचमन करता है अतः वह प्रथम आचमन से पहले ही और पूर्वकृत होमों को इसमें अर्थात् जिस स्थल पर यज्ञ किया जा रहा है, वहाँ अवरुद्ध करता है, आच्छादित करता है, आवृत करता है। द्वितीय आचमन से आज्य भागों को अवरुद्ध करता है और तृतीय आचमन से संस्थित होमों को आवृत करता है- **स यत् पूर्वमाचामति पुरस्ताद्धोमांस्तेनास्मन्नवरुन्द्धे। स यद् द्वितीयमाचामत्याज्यभागौ तेनास्मिन्नवरुन्द्धे। स यत् तृतीयमाचामति संस्थितहोमांस्तेनास्मिन्नवरुन्द्धे।**[३३] शतपथ ब्राह्मणकार जहाँ आचमन का प्रयोजन शुद्धि बताते हैं, वहीं वे यह भी कहते हैं कि सर्वप्रथम अप उपस्पृशन अपः प्रणयन से वह उस सबको प्राप्त करता है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है, इसीलिए वह सर्वप्रथम प्रथम कर्म के रूप में आचमन करता है- **अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तं तत्प्रथमेनैवतत् कर्मणा सर्वमाप्नोति॥**[३४]

---

[३३] गोपथ ब्राह्मण १,१,३९॥

[३४] मा.श.ब्रा. १,१,१,१४॥ तु. का.श.ब्रा. २,१,१,११॥

गोपथगतानि निर्वचनानि : एको विमर्शः

डा० धनञ्जय कुमार आचार्यः[१]

सञ्जयमठपालः[२]

किं च नाम निर्वचनम्? तदत्रोच्यते - वर्तमानस्वरूपादारभ्य मूलस्वरूपं यावच्छब्दानां का गतिरिति विवेचनम्। व्युत्पत्तौ तु केवलं प्रकृतिप्रत्यययोः स्पष्टता ज्ञायते। परं निर्वचने ध्वनिमाश्रित्य सर्वमपि इतिवृत्तं शब्दस्य विज्ञाय मूलार्थस्य ऊहा क्रियते। येषां शब्दानां प्रकृतिप्रत्ययौ स्थानभेदेन कालभेदेन वा परिवर्तितौ तेषां व्युत्पत्तीनामन्वेषणं निर्वचनविज्ञान एव क्रियते। निर्वचनेन पदानां स्वरूपं तथैव प्रकटीभवति यथा सूर्यालोकेन लौकिकानां पदार्थानां रूपम्।

निर्वचनस्वरूपं प्रतिपादयता दुर्गाचार्येणाभिधीयते-

'**अपिहितस्यार्थस्य परोक्षवृत्तावतिपरोक्षवृत्तौ वा शब्दे निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्**'[३]।

अथाननुगतेऽर्थे शब्दतः साक्षादज्ञातेऽसंङ्गतेऽर्थे प्रविभक्तदेशभावस्वरसंस्काररहिते विकारे पदेऽर्थं नित्यं परीक्षेत[४]। यतो

---

[१] **सहायकाचार्यः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली**

[२] **शोधच्छात्रः, दिल्लीविश्वविद्यालयः, दिल्ली**

[३] दुर्गाचार्यवृत्तिः- २.१

[४] निरुक्त-२.१-अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थनित्यः परीक्षेत केनचिद् वृत्तिसामान्येन।

न हि वेदशब्दाः अर्थहीनाः इत्यर्थं संलक्ष्य पदं परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन प्रवृत्तिसामान्येन वार्थं स्पष्टतया निर्ब्रूयात्।

तृतीयोऽत्र प्रकारः- **'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान् निर्ब्रूयात्'**[५]**।** वृत्तिसामान्ये अविद्यमानेऽपि अक्षरसामान्यात् वर्णसामान्यात् खलु निर्ब्रूयात्। **न संस्कारमाद्रियेत**[६]। विशयवत्यो हि वृत्तयो पदवृत्तयो भवन्ति तस्माद् यथाभिप्रायं पदविभागान् सङ्कल्पयेत्। दुर्गाचार्यः च अक्षरवर्णसामान्याद् निर्वचनानां भेदं परम्परया प्राप्तायाः[७] अधोल्लिखितकारिकायाः माध्यमेन ज्ञापयत्येवम्-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

वर्णागमो वर्णविपर्ययो वर्णविकारो वर्णनाशः धातोश्च तदर्थातिशयेन योग इति पञ्चविधं निरुक्तप्रकारमिति। यत्र निर्वचनस्य स्कन्दाचार्योक्तानां पञ्चप्रकाराणां स्थाने, दुर्गाचार्यः तस्य त्रित्वमेवाङ्गीकरोति। यतः तदनुसारं लोप आगमो विकारो विपर्ययश्च इत्येते प्रकाराः विपर्ययान्तर्गता एव भवन्ति।

रचनादृष्ट्या शब्दानां नानाभेदास्सन्ति। अतस्तेषां निर्वचनं समानरीत्या कर्तुमशक्यम्। पदेषु खलु प्रत्यक्षपरोक्षातिपरोक्षविभागा भवन्ति। ते सर्वे निर्वचन-विधानमपेक्षन्ते। अतस्तन्निर्वचनप्रकारं निर्दिश्यते-

तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन गुणेनान्वितौ स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात्[८]**।**

---

[५] निरुक्त- २.१

[६] निरुक्त- २.१

[७] काशिकावृत्ति-६.३.१०९

[८] निरुक्त-२.१

निर्वचनपद्धत्यैव वयं वेदसंहितानां ब्राह्मणारण्यकोपनिषदां च अर्थान् ज्ञातुं समर्थाः। शब्दानां निर्वचनानि न केवलं निरुक्ते अपितु अन्यविधेऽपि वैदिके वाङ्मये दृङ्गोचरीभवन्ति। संहिताः अपि अत्रापवादत्वं न भजन्ते। ब्राह्मणेषु तु एतस्य निर्वचनविज्ञानस्य किमपि समृद्धमेव रूपं निरूपयितुं शक्यम्। गोपथब्राह्मणगतानि कानिचित् निर्वचनानि प्रेरणयानयैव पत्रेऽस्मिन् विमृश्यन्ते।

समुद्रः

गोपथब्राह्मणे सृष्टिवर्णनप्रसङ्गे समुद्रस्य वर्णनं प्राप्यते। तन्मात्राः रेतः भूत्वा सर्वव्यापकमात्मानम् आवृत्य अतिष्ठन्। ताः सर्वतः प्राच्युदीचीप्रतीचीदक्षिणातः यत् अद्रवन्त तस्मात् सर्वव्यापको विभुः समुद्र इत्युच्यते। '**तद्यत्समवद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते**' इति[९]।

जैमिनीयब्राह्मणे वायुरपि समुद्र इत्युच्यते यतः सः पवमानः सर्वाणि भूतानि अनुसंद्रवति[१०]। शतपथब्राह्मणेऽपि वायुः समुद्रनाम्नाभिधीयते[११]।

निरुक्तेऽपि शब्दोऽयं पञ्चधा व्याख्यातः। तत्र प्रथमव्याख्याने समानव्युत्पत्त्यैव[१२] वीचि-तरङ्ग-शीकरादिभावेन सं-सङ्गता उत्-ऊर्ध्वं द्रवन्ति गच्छन्ति अस्मादापो रश्मिभिराकृष्यमाणा आदित्यमण्डलम् इत्यादिव्याख्यारूपात्मिकया समुत्पूर्वाद्द्रवतेर्गत्यर्थकात्[१३] 'अन्येभ्योऽपि

---

[९] ता या अमू रेतः समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठंस्ताः प्राच्यो दक्षिणाच्यः प्रतीच्य उदीच्यः समवद्रवन्त। तद्यत्समवद्रवन्त तस्मात्समुद्र उच्यते। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[१०] य एवायं (वायुः) पवत एष स समुद्रम् एतं हि संद्रवन्ते सर्वाणि भूतान्यनु संद्रवन्ति। जैमिनीयब्राह्मणम् १.२५.४

[११] अयं वै समद्रो योऽयं (वायुः) पवतऽएतस्माद्वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति। श.ब्रा. १४.२.२.२

[१२] समुद्रः कस्मात्? समुद्द्रवन्त्यस्मादापः। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१३] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

दृश्यते'[१४] इत्यपादाने डप्रत्यये टिलोपे च समुद्रशब्दोऽयं ग्रन्थकृता ऋषिणा निरुक्तः।

तत्रैव द्वितीयव्याख्याने[१५] सर्वा एव आपः मरुता प्रेर्यमाणा आदित्यमण्डलाद्वा प्रावृट्काले रश्मिभिः प्रेरिताः अधोगामित्वात् संहताः सत्य अमुं समुद्रमेवोदाभिमुख्येन द्रवन्ति प्राप्नुवन्ति इत्येवं व्याख्यातम्।

तृतीये निर्वचने[१६] अस्मिन् समुद्रे भूतानि सर्वाणि सत्त्वानि जलचराणि बहुजलराशित्वादत्र सम्मोदन्ते आनन्दिताः भवन्ति इति व्याख्यानपूर्वकं समित्युपसर्गपूर्वकात् 'मुद हर्षे'[१७] धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि... शुभिभ्यो रक्'[१८] इत्यनेन उणादिसूत्रेण अधिकरणार्थे रक्प्रत्यये पृषोदरादित्वात् समो मलोपे च रूपसिद्धिर्विधीयते।

तत्रैव चतुर्थे[१९] च तस्मिन् उद् इत्युदकपर्यायं मत्वा तदुदकं तस्मिन् संहतं भवति अस्मात् स समुद्रः। अथवा समित्येकीभावे उदकादुच्छब्दः रो मत्वर्थीये इति स्वीकृत्यापि शब्दोऽयं निरुच्यते। अथ च उदकशब्दस्योद्भावः सञ्ज्ञायां छान्दस इति कृत्वा एकीभूतमुदकमत्र वर्तते इत्यर्थेऽपि समुद्रशब्दो विविच्यते निरुक्तव्याख्याकृद्भिः।

पञ्चमे च नैरुक्ते निर्वचने[२०] एतस्मात् आदित्यमेघादिमाध्यमेन प्रसारितैरम्भोभिर्वर्षारुपैः सकलोऽप्ययं संसारः सङ्क्लिन्नो भवति अतः

---

[१४]अष्टाध्यायी-३.२.१०१

[१५]समभिद्रवन्त्येनमापः। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१६]सम्मोदन्तेऽस्मिन्भूतानि। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[१७]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[१८]उणादिपाठः-२.१३

[१९]समुदको भवति। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

[२०]समुनत्तीति वा। निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८१

सम्पूर्वकाद् 'उन्दी क्लेदने'[२१] धातोः 'स्फायितञ्चिवञ्चि... शुभिभ्यो रक्'[२२] इत्यनेन उणादिसूत्रेण कर्त्तरि रक्प्रत्यये कित्त्वान्नलोपे च समुद्रः सिद्ध्यति।

कोशग्रन्थेष्वपि समुद्रशब्दस्यायमेवार्थः स्वीकृतः[२३]। यतः समुद्रवन्त्यस्मादापः।

रथः

गोपथब्राह्मणे ऋषिः वर्णयति यत् यदा प्रजापतिः ब्रह्मणे प्रदत्तं वैश्वानरं न्यपीडयत् तदा सः रसोऽभवत्। स एव रसः लोके रथनाम्ना प्रसिद्धोऽभवत्। तम् अग्निरूपस्याधेयकं रथं ब्रह्मणे च प्रायच्छत। सः प्रकाशमानः रथः होतॄन् जुषाणः हवींषि गृह्णाति। रस इति अपरनाम[२४]।

निरुक्तेऽपि रथशब्दोऽयं नैकधा विवेचितः। तेषु प्रथमे निर्वचने[२५] निरुक्तकारः गतिकर्मणः रहि धातोः[२६] करणार्थे क्थन्प्रत्यये[२७] बाहुलकाश्रयेण नकारहकारलोपे च निष्पन्नं रथशब्दं निर्वक्ति- रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। अर्थात् रंहति गच्छत्यनेनेति रथः।

तत्रैव द्वितीयव्याख्याने[२८] दृढगठिततत्वात्स्थिरत्वाद् वा तस्य रथस्य विपर्ययीकृतात् विपरीताक्षराद् वा स्थिरते इति नैरुक्ताद्धातोः 'पुंसि संज्ञायां

---

[२१]पाणिनीयधातुपाठः-रुधादिगणः

[२२]उणादिपाठः-२.१३

[२३]अमरकोषः- १.१०.१

[२४]ब्रह्मणे हि प्रत्तन्तस्य रसमपीड त् स रसोऽभवद्रसोह वा एष तं वा एतं रसं सन्तं रथ इत्याचक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.२.२१

[२५] रथो रंहतेर्गतिकर्मणः। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४, निरुक्तम्-४.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[२६]पाणिनीयधातुपाठः-चुरादिगणः

[२७] उणादिपाठः-२.२

[२८] स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

घः प्रायेण'[२९] इति सूत्रेण घप्रत्यये कृते सकारेकारयोर्लोपे च सति शब्दोऽयं निष्पद्यते।

तृतीये निर्वचने[३०] शब्दस्यास्य निरुक्तिर्द्वाभ्यां धातुभ्यां कृता। तत्र निरुक्तकारेण रमतेस्तिष्ठतेश्च[३१] धातोरिति अधिकरणार्थेप्रत्ययकल्पनाच्च द्विधातुजं रूपं स्वीकृतं निरुक्ते। तत्र व्युत्पत्तिश्च क्रियते रममाणो विस्रब्धोऽस्मिंस्तिष्ठतीति रथी[३२] अर्थात् रथे यथा विश्वस्तो भूत्वा स्थातुमुपवेष्टुं वा शक्यते न तथा अश्वादिष्वन्येषु।

अपरे निर्वचने[३३] रप व्यक्तायां वाचि[३४] धातोः क्थन्प्रत्यये[३५] बाहुलकाच्च पकारलोपे शब्दोऽयं निरुच्यते। चतुर्थे व्याख्याने चायं शब्दः रसते[३६] रिति शब्दार्थकाद्धातोः यथापूर्वं क्थन्प्रत्यये शब्दायते ह्यसौ दूरत एव इति व्युत्पत्तिपूर्वकं निरूप्यते।

निरुक्ते प्रसङ्गद्वये[३७] अयमेव रथशब्दः पूर्वोक्तात् गत्यर्थकात् रहि धातोरेव परञ्चार्थभेदेन मेघार्थे वर्णितः। तयोर्वर्णनयोश्चायं रंहणं

---

[२९]अष्टाध्यायी-३.३.११८

[३०] रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[३१] रमु क्रीडायाम्-पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ-पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[३२]रपतेर्वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[३३]रसतेर्वा। निरुक्तम्-९.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४१४

[३४]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[३५] उणादिपाठः-२.२

[३६] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[३७] आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात औषिमद्भिरश्वपर्णैः। निरुक्तम्-११.२, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४७२

रथं नु मारुतं वयं श्रवस्युमाऽऽहुवामहे। निरुक्तम्-१२.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४९४

रंहणस्वभावं वोक्तम्।

एकत्रान्यत्र निरुक्ते[३८] रथशब्दोऽयं गर्तपर्यायत्वेनोल्लिखितः। तत्र निर्दिशति निरुक्तकारः रथोऽपि गर्त उच्यते। तद् यानं रथाख्यं स्तुततमं भवति अर्थाद् अन्येभ्यो अश्वादियानेभ्यो सुखतमं हि तेन गम्यते इति।

शब्दकोशेषु रथ इति शब्दः रमुँ क्रीडायां[३९] धातोः हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यःक्थन्[४०] इति औणादिकेन सूत्रेण क्थन् प्रत्यये कृते साध्यते तत्कर्तृभिः। रम्यतेऽनेनात्र वा इति। विभिन्नेष्वर्थेषु च रथशब्दः प्रयुञ्जते, यथा- वेतसे, रथे अभ्रपुष्पे पादे च। अन्यच्च याने चक्रिणि युद्धार्थे शताङ्गे स्यन्दने रथे[४१]।

पुरुषः

'पुर अग्रगमने'[४२] इति धातोः 'कुषन्' प्रत्यये सति पुरि देहे शेते इति शीङ्धातोः[४३] वा पुरुषः इति शब्दः निष्पद्यते। अग्रगामी परमात्मा पुरुष इतिरूपेण निरूपितम् ऋषिणा गोपथब्राह्मणे। अत्र वर्ण्यते यत् पुरुषः ब्रह्म इति, यः वैदिकसिद्धान्तरूपेण प्रतिष्ठितः। पुरुषः ऐश्वर्यवान् शुद्धस्वरूपब्रह्म इति विद्वद्भिः भणितम्। ब्राह्मणानुसारं शरीरे यद् जीवनसाधकं प्राणतत्त्वं संस्थितं तदेव तत्त्वं पुरुष इति। स पुरुष एव आत्मा परमात्माऽपि उच्यते[४४]।

---

[३८] रथोऽपि गर्त उच्यते। निरुक्तम्-३.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.११३

[३९] पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[४०] उणादिपाठः-२.२

[४१] अमरकोषः- २.४.३०, २.८.५१, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[४२] पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

[४३] पाणिनीयधातुपाठः-अदादिगणः

[४४] तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं पुण्डरीकमिति प्राण एष स पुरि शेते स पुरि शेते इति। पुरिशयं

शतपथब्राह्मणे पुरुष इति शब्दः पुरिशयः इत्यस्माद् निष्पद्यते[४५], तत्र च पुरपूर्वकात् शीङ् स्वप्ने धातोः अच् प्रत्ययः पृषोदरादित्वात् डप्रत्ययो वा विधीयते। अन्यत्रापि वायुः पुरुष उच्यते शरीरे वर्त्तमानत्वात्[४६]।

निरुक्तकारेण यास्केनापि 'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्'[४७] इत्यादिभिर्वचनैः 'पुरि ह्यसौ शेते' इति व्युत्पत्तौ 'अधिकरणे शेते'[४८] इत्यनेन सूत्रेण खश् प्रत्यये कृते प्रत्यक्षक्रियोऽयं शब्दः निरुच्यते।

विभिन्नैः शब्दकोशकारैरपि पुरुषशब्दोऽयम् एतस्मादेव धातोः परञ्च नानार्थेषु पठितः। यथा- क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः प्रधानं प्रकृतिः इत्यमरः[४९]। पुरति अग्रे गच्छतीति इति शब्दकल्पद्रुमः[५०]।

पुत्रः

पुत्रशब्दं निरुपयता ऋषिणा शब्दस्यास्य व्युत्पत्तिः पुत्पूर्वकात् त्रैङ् पालने[५१] इत्यस्माद् धातोः कप्रत्ययेन विधीयते। पुन्नाम नरकम् यच्च बहुविधाभिभवयुक्तं मन्यते। यः तस्मात् पुन्नामकात् नरकात् पितरं त्रायते सः पुत्र इति स्मृतः। ऋषिणा ब्रह्मणः स्वेदधाराभिः सृष्टिवर्णनप्रसंगे शब्दस्यास्य वर्णनं विहितं ब्राह्मणे[५२]।

सन्तं प्राणं पुरुष इत्याक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.१.३९

[४५]स वाऽऽयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिषयः। शतपथब्राह्मणम् १४.५.५.१८

[४६]इमे वै लोका पूरयमेव पुरुषो योऽयं (वायुः) पवते सोऽस्यां पुरिशेते तस्मात् पुरुषः। शतपथब्राह्मणम् १३.६.२.१

[४७]निरुक्तम्-१.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.३४

[४८]अष्टाध्यायी-३.२.१५

[४९]अमरकोषः- २.६.१

[५०]शब्दकल्पद्रुमः, वाचस्पत्यम्

[५१]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[५२]यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्।

निरुक्तेऽप्ययं शब्दः[५३] समानादेव धातोः केवलम् उपपदवर्तिनः शब्दस्य फलतः अर्थस्यापि च भेदात् प्रदर्शितः। तत्र व्याख्याकाराः अमरकोशमुद्धृत्य[५४] पुरु इति बहुपर्यायत्वेनोदाहरन्त्यग्रे च वदन्ति यत् पित्राचरितेभ्यः भूयिष्ठेभ्योऽपि पापकर्मभ्यो यो रक्षति स पुत्र इत्यभिधीयते। एवं पुरुपूर्वकात् 'त्रैङ्पालने' धातोः 'आतोऽनुपसर्गे कः'[५५] इत्यनेन कप्रत्यये 'आदेच उपदेशेऽशिति'[५६] अनेन आत्वे 'आतो लोप इटि च'[५७] सूत्रेणानेन आलोपे पृषोदरादित्वात् रुलोपे च कृते पुत्रशब्दोऽयं निरुक्तः।

शब्दकोशेष्वपि अयमेवार्थः समर्थ्यते। आत्मजः पुत्र इत्यभिधीयते, सः जनकौ त्रायते पूतो नरकभेदात् इति[५८]।

मृत्युः

ब्राह्मणेऽस्मिन् मुचॢँ मोक्षणे[५९] इत्यस्माद् धातोः उप्रत्यये कृते साधितः मृत्युशब्दः। वरुणः यदा समुद्रात् सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् अमुच्यत तदा सः मुक्तोऽभवत्। तं मुक्तमेव वरुणं मृत्यु इति वदन्ति ऋषयः। मुच्युः नाम मृत्युरित्युक्तं ब्राह्मणे। स एव सर्वेषां त्याजयिता मारयिता वियोजको

गोपथब्राह्मणम् १.१.२

[५३]निरुक्तम्-२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.८२

[५४]अमरकोषः-३.१.६३,प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु। पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च॥

[५५]अष्टाध्यायी-३.२.२

[५६]अष्टाध्यायी-६.१.४५

[५७]अष्टाध्यायी-६.४.६४

[५८]अमरकोषः- २.६.२७, वाचस्पत्यम्

[५९]पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

वा कथ्यते ऋषिणा सर्वस्मात् पृथग्भूतत्वात्[६०]।

निरुक्ते[६१] मृत्युशब्दः अन्तर्भावितण्यर्थात् मृङ् प्राणत्यागे[६२] इत्यस्माद् धातोः 'युजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ'[६३] इति उणादिसूत्रेण त्युक्प्रत्यये कृते निष्पन्नो भवति। मृत्युर्मारतीति सतः मध्यमो नाम प्राणवायुः। स उत्क्रामन् शरीरादितरैः प्राणैः वियोजयति। एवं मारयति देहिनः। यतोहि विज्ञायते - प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति। अथवा यः मृतं च्यावयति स मृत्युः। य उपक्षीणायुर्भवति आसन्नमरणो वा। तमेषः मध्यमः प्राण शरीरच्च्यावयतीति आचार्यस्य मौद्गल्यस्य मतम्[६४]।

शब्दकोशकारैरपि मृत्युशब्दः प्राणवियोगार्थकः स्मृतः। शब्दोऽयम् अपरनामभिरपि प्रसिद्धो यथा- कालः प्रलयः अन्तो नाशो वा। म्रियते अस्मादिति मृत्युः इति[६५]।

वरुणः

आथर्वणेऽस्मिन् ब्राह्मणे ऋषिणा वृञ् वरणे[६६] इत्यस्माद्धातोः 'कृवृदारिभ्य उनन्'[६७] इति सूत्रेण उनन् प्रत्ययं गुणं णत्वञ्च कृत्वा वरुणशब्दः साधितः। यदा तन्मात्राः भीताः सत्यः राजानं गृहीत्वा अतिष्ठन्, तदा तं ग्रहणयोग्यमेव वरुण इति उक्तवन्तः। स्वीकरणीय

---

[६०]स समुद्रादमुच्यत स मृच्युरभवत्तं वा एतं मृच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[६१] मृत्युर्मारयतीति सतः। निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४६९

[६२]पाणिनीयधातुपाठः-तुदादिगणः

[६३]उणादिपाठः-३.१९

[६४]मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः। निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४६९

[६५]अमरकोषः- २.८.११६, शब्दकल्पद्रुमम्, वाचस्पत्यम्

[६६]पाणिनीयधातुपाठः-स्वादिगणः

[६७]उणादिपाठः-३.४३

इत्यर्थः[६८]।

वरुणशब्दः निरुक्तेऽपि उपर्युक्तप्रकृतिप्रत्ययव्याकृतिरूपं वृणोतीति सत इति निर्वचनपूर्वकञ्च[६९] निष्पन्नः स्वीकृतः। आवृणोति अयं मेघजालेन वियत् इति वायोरर्थे।

निरुक्ते द्वयोः प्रसङ्गयोः वरुणशब्दः अनिष्टनिवारकसूर्यवाचकः[७०] विद्युद्वाचकश्चापि पठितः[७१]।

शब्दकोशेष्वपि शब्दोऽयम् अस्मिन्नेवार्थे पठ्यते। वृणोति सर्वं व्रियते अन्यैरिति वा। अन्येष्वपि बहुष्वर्थेषु पश्चिमदिगधिपतिः सूर्यः विश्वः द्वीपभेदश्चेत्यादिषु वर्तते [७२]।

धारा

धाराशब्दस्य निर्वचनं कुर्वता गोपथब्राह्मणकारेण ऋषिणा शब्दस्यास्य व्युत्पत्तिः धृञ् धारणे[७३] इत्यस्माद् धातोः विहिता। ब्रह्मणा कृतायाः सृष्टिप्रक्रियायाः वर्णनप्रसङ्गे आख्यानेनैकेन निर्वचनमिदमेवं कृतम्। तेन ब्रह्मणा कृतायां सृष्टिप्रक्रियायां तपसः कारणात् समुत्पन्नानां स्वेदधाराणां स्रावः तस्य शरीरे अभूत्। येन प्रसन्नेन ब्रह्मणोक्तं यदहम् एताभिः धाराभिः सर्वं धारयिष्यामि। तदेव धाराणां धारात्वं यच्चासु

---

[६८]यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत् तं वा एनं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते। गोपथब्राह्मणम् १.१.७ ,पृ. १६

[६९]निरुक्तम्-११.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४३३

[७०]येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि। निरुक्तम्-१२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.५०७

[७१] पवित्रवन्तःपरिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतम्। महः समुद्रं वरुणस्तिरोदधे धीरा इच्छेकुर्धरुणेष्वारभम्। निरुक्तम्-१२.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.५१३

[७२]अमरकोषः- १.१.६१, २.४.२५, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[७३]पाणिनीयधातुपाठः- भ्वादिगणः

ध्रियते। अर्थात् गोपथब्रह्मणानुसारं धारणात् धारेति निरुच्यते[७४]।

निरुक्तव्याख्याकारैरपि धाराशब्दः प्रवाहाऽर्थे स्वीकृतः[७५]। विभिन्नेषु शब्दकोशेष्वपि शब्दोऽयम् अस्मादेव धातोः परञ्च नानार्थेषु व्याख्यातः। तेष्वर्थेषु अश्वगतिः द्रवद्रव्यस्य प्रपातः इत्यादयः अर्थाः प्रामुख्यं भजन्ते[७६]।

अङ्गिरा

शब्दोऽयं ब्राह्मणे सृष्टिवर्णनक्रमे[७७] व्याख्यातः ऋषिणा। यदा परमेश्वरात् प्रमुच्यन्तं वरुणं स ईश्वरः सर्वतः सम्यगभितपत्। तदा तस्य श्रान्तस्य परमात्मनः सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो रस अक्षरत्। अङ्गेभ्यः प्रादुर्भूतत्वात् स अङ्गरसोऽभवत्। तदेव अङ्गरस अङ्गिरा इति आख्यायते।

निरुक्तकारेण यास्केन अङ्गारेष्वाङ्गिरा बभूव[७८] इति निर्वचनपूर्वकं 'अगि गतौ'[७९] इत्यस्माद्धातोः बाहुलकात् औणादिकात् इरसुन्प्रत्ययात् अङ्गिराशब्दो निरुच्यते। अथापि अङ्ग्यतेऽन्विष्यते असावङ्गिरा। अङ्गिरःप्रधानकाः गणाश्च अङ्गिरसः कथ्यन्ते।

---

[७४]तदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चाभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति। तद्यदब्रवीदाभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्चेति, तस्माद् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारत्वं यच्चासु ध्रियते। गोपथब्राह्मणम् १.१.२

[७५]निरुक्तम्-१०.१, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.४.३७

[७६]अमरकोषः- २.८.४९, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[७७] तं वरुणं मृत्युमभ्यश्राम्यदभ्यतपत्समतपत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यो- रसोऽक्षरत् सोऽङ्गरसोऽभवत् तं वा एतमङ्गरसं सन्तमङ्गिरा इत्याक्षते। परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। गोपथब्राह्मणम् १.१.७

[७८]निरुक्तम्-३.३, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.१४१

[७९]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

अस्मिन्नेवार्थे कोशेष्वपि निरूपितः अङ्गिराशब्दः। ब्रह्मणो मुखान्निः सरति अङ्गति इति अङ्गिरा। ब्रह्मणः मानसपुत्रः ऋषिविशेषो वा[८०]।

मख

मख इति शब्दः यज्ञार्थकः। गोपथब्राह्मणे शब्दोऽयं निषेधार्थकमापूर्वकात् खनुविदारणे (अवदारणे)[८१] धातोः डप्रत्यये कृते सिद्ध्यति। ऋषिः यज्ञवर्णने निर्दिशति यत् यज्ञः छिद्ररहितः दोषरहितो वा स्यात्। प्रमादात् मन्त्राणां यज्ञविधीनाञ्च अप्रयोगात् अदाक्षिण्यात् प्रायचित्तादीनाञ्च व्यतिक्रमात् यज्ञः छिद्रयुक्तो दूषितो वा सम्पद्यते। एतानुपद्रवान् सम्यक् अधीयानः यज्ञवेत्ता विहितब्रह्मचर्यव्रतः अप्रमत्तश्च विद्वान्नेव अपवारयितुं क्षमः। उच्यते चापि -

छिन्नभिन्नोपध्वस्तो विश्रुतो बहुधा मखः।
इष्टापूर्तद्रविणं गृह्ययजमानस्यावापतत्[८२]॥

अर्थात् अपध्वस्तः छिन्नश्च यज्ञः विश्रुतोऽपि सन् यजमानानाम् इष्टापूर्तद्रविणादीन् सुकृतांश्च नाशयति[८३]।

निरुक्तेऽप्ययं शब्दः महनीयार्थे यज्ञार्थे[८४] एव प्रयुक्तः प्रतीयते।

कोशग्रन्थेषु अपि मखशब्दः यज्ञार्थकः स्मृतः। मखन्ति गच्छन्ति देवाः। अत्र मखसर्पणे धातोः 'हलश्च'[८५] इति सूत्रेण घञ् प्रत्ययो सति

---

[८०]वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[८१]पाणिनीयधातुपाठः-भ्वादिगणः

[८२]गोपथब्राह्मणम् २.२.५

[८३]मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं, छिद्रप्रतिषेदसामर्थ्यात्। छिद्रं खमित्युक्तम्, तस्य मेति प्रतिषेधः, मा यज्ञं छिद्रं करिष्यतीति। गोपथब्राह्मणम् २.२.५

[८४] निरुक्तम्-३.४, मुकुन्द झा शर्मा, पृ.१५७

[८५]अष्टाध्यायी-३.३.१२७

सिद्ध्यति मखः शब्दः। यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः इति[८६]।

वस्तुतः व्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभाजनपूर्वकं शब्दानां प्रायः बाह्यस्वरूपमात्रं शरीरमात्रं वा प्रकाश्यते परं निर्वचनेन तु तस्यैव शब्दस्यान्तरिकं मूलं वा स्वरूपम् आत्मा वा प्रकटीक्रियते। एतस्मादेव निर्वचनपरम्परायामुक्तिरियं सुप्रसिद्धा विद्वद्भिस्समादृता च। तद्यथा- 'तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकञ्च'[८७]।

गोपथब्राह्मणगतानां निर्वचनानामनुशीलनेनैवं स्पष्टतया प्रतीयते यदत्र मन्त्राणां प्रसङ्गानुकूल्येन शब्दानामर्थमूलानि ऊह्यन्ते। अस्माद् ब्राह्मणग्रन्थाः वैदिकवाङ्मयस्यार्थज्ञानाय साधकतमानि शास्त्राणि[८८] वर्तन्ते इति पौनःपुन्येन निश्चप्रचमुद्घोषयितुं शक्यते। ब्राह्मणग्रन्थाः तत्परम्परानुगामीनि निरुक्तादिशास्त्राणि स्वाभाविकतया मन्त्राणामानर्थक्यापवादान् कौत्सेत्यादीनां[८९] समूलमुच्छिन्दन्ति सर्वार्थसाधकान् वेदान् सुप्रतिष्ठापयन्ति चेत्युपसंहृतिः।

---

[८६] अमरकोषः- २.७.१३, वाचस्पत्यम्, शब्दकल्पद्रुमः

[८७] निरुक्तम्-१.५

[८८] अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।
अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं। निरुक्तम्-१.५

[८९] यदि मन्त्रार्थप्रत्याय अनर्थकं भवतीति कौत्सः। निरुक्तम्-१.५

गोपथ ब्राह्मण में निरूपित नैतिक जीवन मूल्य

प्रो० योगिनी एच. व्यास[१]

मानव को सच्चे अर्थों में मानव बनाने का श्रेय उन उदात्त जीवन मूल्यों को है, जिनके माध्यम से वह अपना सात्त्विक जीवन जी रहा है। वस्तुतः किसी भी राष्ट्र का मूल्याङ्कन वहाँ के जन समाज के आचरणगत मूल्यों के आधार पर ही होता है। प्रत्येक राष्ट्र की एक परम्परागत संस्कृति होती है, जिसका सृजन उन मूल्यों के आधार पर होता है, जिन्हें वहाँ के महापुरुषों ने अपने जीवन में अपनाया। वस्तुतः उन मूल्यों के और उनके माध्यम से ही उनका चरित्र एवं व्यक्तित्व गौरवमय बनकर स्वर्णाक्षरों में अङ्कित हुआ है। किसी भी देश की भौतिक प्रगति का भी महत्त्व है। लेकिन भौतिक प्रगति को उस देश का शरीर कहा जा सकता है। जबकि उसमें प्राणतत्त्व का संचार करने वाले जीवन मूल्य ही हैं।

संस्कृत साहित्य विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न साहित्य है। इसमें मानव जीवन की अभ्युदय एवं निःश्रेयस् सम्बन्धी सभी बातों का सम्पूर्ण वर्णन है। भारतीय समाज के भव्य विचारों का वह रुचिर दर्पण स्वरूप है। इसमें जीवन के प्रत्येक पक्ष, पुरुषार्थ चतुष्टय तथा राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् की विविध घटनाओं

[१] **पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उमा आर्ट्स कालेज, गान्धीनगर, गुजरात**

और तत्त्वों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। मानव मेधा की उन्नत कल्पना, हृदय की भावना की गहनता, व्यापकता तथा सन्देशवाहिता की दृष्टि से संस्कृत वाङ्मय अनुपम व अतुलनीय है। महती महिमा से मण्डित संस्कृत साहित्य का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन गौरव का विषय है।

भारतीय आध्यात्मिक जीवन तथा सांस्कृतिक समुत्कर्ष को प्रकट करने वाले वेद युग युगान्तर से ही न केवल भारत अपितु विश्व के ज्ञान पिपासुओं की मानव भूमि को अपनी संगीतमयता, भावपूर्णता, परिष्कृत भाषा तथा छन्दों की श्रुति मधुर लहरियों से रसाप्लावित कर रहे हैं। वेद भारतीय वाङ्मय किं वा विश्व वाङ्मय के उपलब्ध प्राचीनतम, प्रशस्ततम एवं समृद्धतम ग्रन्थरत्न हैं। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के द्वारा सतत साधना व तपश्चर्या से प्रत्यक्षीकृत विमल ज्ञानराशि वेद ही हैं। अतीत, वर्तमान, अनागत त्रैकालिक स्थूल-सूक्ष्म, समीपस्थ-दूरस्थ समस्त विषयों का सुस्पष्ट ज्ञान प्रदान करने वाले वेद सनातन चक्षु हैं। वेद सकल ज्ञान-विज्ञान, परा-अपरा उभय विद्याओं से सञ्चालित हैं। वेदों में जगह जगह पर नैतिक मूल्यों के विषय में सुचारू मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

सर्वप्रथम मूल्य को परिभाषित करें तो मूल्य एक अमूर्त गुण है, जो किसी वस्तु में निहित होता है तथा उसके महत्त्व को इंगित करता है।

वैदिक धर्म की धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो नीति-नियम और विधि-व्यवस्थाएँ हैं, उनका विस्तार से वर्णन करने वाले आदि ग्रन्थ ब्राह्मण हैं। इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक धर्म के आदिस्रोत और धर्म के अतिप्राचीन व्याख्यान होने के कारण मानव जाति के पहले धर्म ग्रन्थ भी हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदों का समकक्षी और समकालीन कहा गया है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों मे जहाँ एक ओर सांसारिक क्रिया-कलाओं का वर्णन है, वहीँ दूसरी ओर आध्यात्मिक विषय का भी गम्भीर चिन्तन है। वैदिक

साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन की ओर विद्वानों की अतिशय अभिरुचि उनकी उपयोगिता की परिचायक है।

वैदिक वाङ्मय की परम्परा में अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य लक्ष्य यश निष्पत्ति, याज्ञिक प्रक्रियाओं द्वारा विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करना है। तदनुसार इस ब्राह्मण-ग्रन्थ का भी मुख्य प्रतिपाद्य याज्ञिक प्रक्रिया ही है। गोपथ ब्राह्मण के पूर्व भाग के द्वितीय प्रपाठक के प्रारम्भ में ही ब्रह्मचारी के महत्त्व तथा उसके कर्तव्यों के विषय में महत्त्वपूर्ण चर्चा की गयी है । ब्रह्म शब्द से वेद, तप तथा सत्य का निष्ठापूर्वक ज्ञान प्राप्त करना ही विद्यार्थी का दायित्व है। उपनयन संस्कार के माध्यम से गुरु की निकटता में रहकर वह भिक्षा रूप समिधाहरण, अग्निचर्या और श्रम के द्वारा तेजोमय और स्वावलम्बी जीवन की नींव डालता था। अथर्ववेद (११.५.९) में कहा गया है कि आदर्श विद्यार्थी वेदों के ज्ञान, पुरुषार्थ, लोकहित, प्रजापालक राजा और विराट् परमेश्वर के महत्त्व को स्थापित करता है।[२] इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्मचारी के ऊपर अपने ज्ञानार्जन और सर्वविध विकास के साथ-साथ राष्ट्रनिर्माण और लोकहित का परम उत्तरदायित्व भी था।

ब्रह्मचर्य सूक्त की समीक्षा करते हुए श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने कहा है कि ब्रह्मचारी वह होता है, जो ब्रह्म अर्थात् बड़ा होने के लिए चारी अर्थात् पुरुषार्थ करता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ वृद्धि, महत्त्व, बड़प्पन, ज्ञान, अमृत आदि है। चारी शब्द का भाव आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दोनों पदों से व्यक्त होता है कि अभिवृद्धि के प्रयत्न करना, सब प्रकार से श्रेष्ठ बनने का पुरुषार्थ करना, सत्य और

---

[२] अथर्ववेद ११.०५.०९

शुद्ध ज्ञान बढ़ाने का यत्न करना, अमरत्व की प्राप्ति के लिए परम पुरुषार्थ करना, यह मुख्य भाव ब्रह्मचारी शब्द में है। ब्रह्मचारी सृष्टि का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। यह एक-एक वेदसूक्त को पढ़ता है और उन देवताओं के गुणों को अपने अन्दर डालने का यत्न करता है। इन देवताओं में परमात्मा के विविध गुणों का आविर्भाव होने के कारण वह परम्परा से परमात्मा के गुणों को ही अपने अन्दर बढ़ाता है।[३] शतपथ ब्राह्मण में इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है- **यद् देवा अकुर्वस्तंत्करवाणि**[४] अर्थात् जो देव करते आये हैं, वह मैं करूँगा। अथर्ववेद के अनुसार **ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति**[५] अर्थात् ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर पाता है। अथर्ववेद में आगे कहा गया है- **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**[६] अर्थात् ब्रह्मचर्य के कारण ही कन्या तरुण पति को प्राप्त करती है।

गोपथ ब्राह्मण के द्वितीय प्रपाठक में प्रातःसवन में इन्द्र आदि के लिए, माध्यन्दिन सवन में इन्द्र के लिए तथा तृतीय सवन में इन्द्र और ऋभुओं के लिए हवि का विधान है। इस प्रसङ्ग पर गोपथ ब्राह्मण कहता है- **विचक्षणवतीं वाचं भाषन्ते ...प्राजापत्यं सत्यं वदन्ति। एतद्वै मनुष्येषु सत्यं यच्चक्षुः।**[७] अर्थात् ब्रह्मवादी लोग विचक्षणवती और पूजनीय शब्द वाली वाणी बोलते हैं। प्रजापति भी पूजनीय शब्द वाली वाणी बोलते हैं। वे सत्य बोलते हैं।

हमारे सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सत्य की महिमा का शंखनाद

[३] श्रीपाद सातवलेकर, अथर्ववेद का सुबोध भाष्य, चतुर्थ भाग, पृ० ९२

[४] शतपथ ब्राह्मण ६.३.२.६

[५] अथर्ववेद ११.५.१७

[६] वही ११.५.१६

[७] गोपथ ब्राह्मण, उत्तर भाग, प्रपाठक २, कण्डिका २३

किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है-

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च।

सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च।

तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च।[८]

मुण्डकोपनिषद् में पाप के उन्मूलन में सत्य के योग को स्पष्ट करते हुए कहा गया है-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यज्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥[९]

अर्थात् यह अन्तःकरण में विद्यमान ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा निश्चय ही सत्यभाषण, तप, ब्रह्मचर्य और यथार्थज्ञान से प्राप्त हो सकता है- सर्वदा दोषरहित सार्थक ही इसे देख पाता है। तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है- **ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दमस्तपः, शमस्तपो दानं तपो यशस्तपो...।** [१०]

वैदिक मन्त्रों में सत्य, शुचिता, सद्भाव, वाणी का माधुर्य और आत्मविश्वास बनाए रखने का आग्रह तथा सत्य धर्म पर बार-बार बल दिया गया है। अथर्ववेद के अनुसार यह धरती सत्य पर ही टिकी हुई है। जैसे कि अथर्ववेद में **सत्येनोत्तभिता भूमिः**[११] **पृथिवीं धर्मणा धृताम्**[१२] के द्वारा सत्य और धर्म का गौरव प्रदर्शित किया गया है। यजुर्वेद में **ऋतस्य पथा प्रेत**[१३] और ऋग्वेद में **क्रतस्य गोपा न दभाय सुक्रतुः**[१४] द्वारा सत्य की

---

[८] तैत्तिरीयोपनिषद् १.३

[९] मुण्डकोपनिषद् ३.१.५

[१०] तैत्तिरीय आरण्यक १०.८

[११] अथर्ववेद १४.१.१७

[१२] वही १२.१.१७

[१३] यजुर्वेद ७.४५

महिमा दर्शायी गई है।

गोपथ ब्राह्मण में उपयोगी वस्तु की प्रशंसा करने के विषय में कहा गया है- **कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्प्यते, नैव शस्यं निवर्तयति**[१५] अर्थात् घड़े में मिट्टी के ढेले के डालने पर उस घड़े के जल का उपयोग न तो सफाई के लिए हो पाता है, न ही उससे धान्य सम्पत्ति हो पाती है। उपयोगी वस्तु का भी यदि अस्थान में प्रक्षेप कर दिया जाए तो उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित नैतिकता, आचारप्रवणता, सन्मार्गगामिता, कर्मशीलता, साम्मनस्य आदि की शिक्षा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की दिशा को प्रशस्त करती है।

---

[१४] ऋग्वेद ९.७.३८

[१५] गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग, प्रपाठक ४, कण्डिका १७

गोपथ ब्राह्मण में सृष्टि रचना प्रक्रिया में ओङ्कार का महत्त्व

डा० नन्दिता सिंघवी, डी. लिट्.[१]

सृष्टि रचना किस प्रकार हुई? इस प्रश्न पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने अनेक परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं और अब भी शोध जारी है। वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थलों पर सृष्टि की उत्पत्ति और रचना किस प्रकार हुई? इसकी जिज्ञासा की गयी है। इस जिज्ञासा का समाधान भी विभिन्न प्रकार से दिया गया है।

वेदों में सृष्टि रचना प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्राप्त अनेक मान्यताओं में से एक है कि ओ३म् अक्षर से सृष्टि रचना हुई। ओ३म् वैदिक धर्म ही नहीं अपितु सभी प्रमुख धर्मों का सबसे पवित्र शब्द है। अन्य धर्मों में भी शब्द से सृष्टि रचना प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। तत्त्वतः यह ओ३म् कौन है और इसका क्या महत्त्व है? इस प्रश्न का उत्तर तैत्तिरीय आरण्यक[२] और तैत्तिरीय उपनिषद्[३] में इस प्रकार मिलता है कि- **ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्** अर्थात् ओ३म् ब्रह्म का नाम है, ओ३म्

[१] **अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय डूँगर महाविद्यालय, बीकानेर**

[२] तैत्तिरीय आरण्यक-७.८

[३] तैत्तिरीय उपनिषद्-शीक्षा वल्ली, ८

ही विश्व है। ब्रह्म-विद्योपनिषद् के अनुसार ओ३म् एकाक्षर ब्रह्म है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म तदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।**[४]

स्वामी दयानन्द ने भी ओ३म् को परमेश्वर का वाचक माना- ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति।[५]

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो पर और अपर ब्रह्म है, वह ओङ्कार है- **परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः**[६]। माण्डूक्योपनिषद् ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा कि ओ३म् इस अक्षर की महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों वाला यह संसार ओङ्कार है और तीनों कालों से परे जो अन्य तत्त्व है वह ओङ्कार ही है।[७] वराहपुराण ने स्वीकार किया है कि- जगत् पहले शून्य में स्थित था, ओङ्कार से ही जगत् की उत्पत्ति हुई।[८] ओ३म् सम्बन्धी विवेचन गोपथब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक की कण्डिका संख्या १६ से ३० में प्राप्त होता है। गोपथब्राह्मण के उपर्युक्त अंश को प्रणव उपनिषद् भी कहा जाता है, जो कि ओ३म् का ही पर्याय कहा गया है।

गोपथ ब्राह्मण का प्रारम्भ ही इस रहस्योद्घाटन के साथ हुआ है कि ओ३म् नामक ब्रह्म ही निश्चय करके इस जगत् से पूर्व था। उसने स्वयं को अकेला ही देखा। उसने विचार किया कि मैं बड़ा ही पूजनीय हूँ, सो मैं

---

[४] ब्रह्म-विद्योपनिषद्, २

[५] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार

[६] प्रश्नोपनिषद्, ५.२

[७] ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व तस्योपख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव- माण्डूक्योपनिषद्, १

[८] जगत् प्रणवतो भूतं शून्यमेतत्स्थितं तदा, वराहपुराण-९.७

अकेला ही हूँ। अरे! मैं अपने से ही अपने समान दूसरा देव बनाऊँ - **ओ३म् ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयन्त्वेकमेव तदैक्षत, महद्वै यक्षं, तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम इति।** तब ब्रह्म ने सृष्टि रचना प्रक्रिया के लिये अपने ब्रह्मचर्य के सामर्थ्य से 'ओ३म्' इस अक्षर को देखा[९], यह एक अक्षर वाली ऋचा ब्रह्मा के तप से सर्वप्रथम प्रकट हुई- **सैषैकाक्षरा ऋग् ब्रह्मणस्तपसो ह्यग्रे प्रादुर्बभूव।**[१०]

ओ३म् दो वर्ण, चार मात्रा वाला, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार ब्रह्म वाला, ब्रह्म की व्याहृति वाला और ब्रह्मदैवत युक्त अथवा ब्रह्मदेवता वाला था। उससे ब्रह्मा ने सब कामनाओं, सब लोकों, सब दिव्य पदार्थों, सब वेदों, सब यज्ञों, सब शब्दों, सब वसतियों, सब स्थावर-जंगम भूतों (सत्ताओं) को बनाया।[११] ओ३म् अक्षर इतना अधिक शक्तिशाली था कि उसके दो वर्ण और चार मात्राओं से सृष्टि रचना प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्मा ने ओ३म् के प्रथम वर्ण ओकार से आपः और स्नेह अर्थात् चिकनाई को तथा द्वितीय वर्ण मकार से तेज और ज्योतियों को बनाया। इसके पश्चात् ओ३म् के प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन से सृष्टि की रचना हुई।

ओ३म् की प्रथम स्वर मात्रा 'अकार' से पृथिवी, अग्नि, ओषधि-वनस्पतियाँ, ऋग्वेद, भूः, व्याहृति, गायत्री छन्द, त्रिवृत स्तोम, पूर्व दिशा, वसन्त ऋतु, अध्यात्म, वाणी, जिह्वा, रस और इन्द्रियों को ब्रह्मा ने बनाया।

---

[९] गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग- १.१६

[१०] वही, वही, १.२२

[११] वही, वही १.१६

उस ओ३म् की दूसरी स्वर मात्रा 'उकार' से अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद, भुवः, व्याहृति, त्रैष्टुभ छन्द, पञ्चदश स्तोम, पश्चिम दिशा, ग्रीष्म ऋतु, अध्यात्म, प्राण, दोनों नासिका, गन्ध सूँघने का सामर्थ्य और इन्द्रियों को ब्रह्मा ने बनाया।[१२]

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ओ३म् पद की सिद्धि में ओ३म् में विद्यमान आप् अथवा अव् दोनों धातुओं में आप् के पकार को वकार फिर वकार बाद में उकार होता है इसी प्रकार अव् के वकार को सम्प्रसारण उकार फिर आप् धातु के आ और उ को तथा अव् के अ उ को गुण ओ होता है। तत्पश्चात् मकार प्रत्यय लगता है।[१३] गोपथ ब्राह्मण का वैशिष्ट्य है कि उसने ओकार व वकार से भी सृष्टि रचना को माना है।

ओ३म् की तीसरी स्वर मात्रा (ओकार) से द्युलोक, आदित्य, सामवेद, स्वः, व्याहृति, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, उत्तरदिशा, वर्षा ऋतु, अध्यात्म, ज्योति, दो नेत्र, देखने का सामर्थ्य और इन्द्रियों को ब्रह्मा ने बनाया।

उस ओ३म् की वकार (सम्प्रसारण से उकार) मात्रा से अपः, चन्द्रमा, नक्षत्र, अथर्ववेद, ओ३म् इस अपनी आत्मा को, अंगिरसों को, आनुष्टुभ छन्द को, इक्कीस स्तोम को, दक्षिण दिशा, शरद् ऋतु, अध्यात्म, मन, ज्ञान, ज्ञेय और इन्द्रियों को उस ब्रह्मा ने बनाया।

ओ३म् के मकार के श्रवण से विचित्र रमणीय गुण वाले दिव्य पदार्थों के समूह, विविध प्रकाश वाली ज्योति, बार्हत छन्द, तीनों कालों में स्तुति किये गये तैंतीस देवता, दो स्तोम, नीचे और उपर की दिशा, हेमन्त और शिशिर ऋतुएँ, अध्यात्म, श्रोत्र, शब्द और सुनने का सामर्थ्य

---

[१२] वही, वही-१.१६-१८

[१३] वही, वही, १.२६

और इन्द्रियों को ब्रह्मा ने बनाया।[१४]

गोपथ ब्राह्मण की ओ३म् सम्बन्धी कण्डिकाओं से ज्ञात होता है कि ओ३म् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतीक है। वैज्ञानिकों ने खोजा है और चित्र भी लिये हैं कि बहुत सी आकाशगंगाएँ ओ३म् की आकृति तुल्य फैली हुई हैं। इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ओ३म् यह अनुकृति अर्थात् अनुकरणात्मक है- **ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्व वा**।[१५]

भर्तृहरि का मानना है कि इस संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है वह सब शब्दब्रह्म का ही विवर्त है-

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रयममेतद्विश्वं व्यवर्तत॥[१६]

वस्तुतः ओ३म् की ध्वनि एक शाश्वत ध्वनि है, ब्रह्माण्डीय ध्वनि है, कॉस्मिक साउण्ड है, जिससे ब्रह्माण्ड का जन्म हुआ है। सूर्य सहित पूरे ब्रह्माण्ड में यह ध्वनि ध्वनित हो रही है। वैज्ञानिक भ्रमण करते हुए सूर्य की ध्वनि को रिकॉर्ड करने में सफल हो गये और वह ओ३म् की ही ध्वनि है।

आशा है शनैः शनैः वैज्ञानिक गोपथ ब्राह्मण की उस मान्यता के सन्निकट पहुँच जायेंगें, जिसमें कहा गया कि ओ३म् से इस विश्व की रचना हुई है।

---

[१४] वही, वही, १९-२१

[१५] तैत्तिरीयोपनिषद्-शीक्षा वल्ली, ८

[१६] वाक्यपदीय-१.१२०

गोपथ ब्राह्मण में वर्णित सावित्री विद्या

डा० जगमोहन[१]

गायत्री मन्त्र जिसे सावित्री के नाम से भी जाना जाता है। जिसके जप का वर्णन न केवल शास्त्रों तक सीमित है, अपितु भारतीय जनमानस में इस मन्त्र के प्रति अगाध विश्वास एवं श्रद्धा का भाव है। छान्दोग्य उपनिषद् गायत्री की महिमा का वर्णन करते हुए कहती है कि यह सम्पूर्ण संसार गायत्री का ही रूप है। गायत्री का वाणी से उच्चारण होता है। वाणी का काम गाना तथा संसार की रक्षा करना है। गायत्री के उच्चारण से भी भगवान् का गुण गाया जाता है और यह उपासक की रक्षा करती है अतः वाणी गायत्री का ही रूप है।[२] भगवान् श्रीकृष्ण गीता में गायत्री के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ।[३] स्वामी दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखते हैं कि पिता, माता व अध्यापक अपने लड़के-लड़कियों को अर्थ-सहित गायत्री मन्त्र का उपदेश करें। मनुस्मृतिकार भी सावित्री के अध्ययन की बात

---

[१] **संस्कृत विभाग, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

[२]गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री वाग्वा इदं सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ छान्दोग्य.३.१२.१

[३]गायत्री छन्दसामहम्। गीता १०.३५

कहते हैं -

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः॥[४]

परन्तु क्या गायत्री मन्त्र का उच्चारण एवं जप मात्र करना सावित्री विद्या है? सावित्री विद्या एक बहुत ही गम्भीर एवं व्यापक विद्या है। गायत्री मन्त्र का उच्चारण और जप इस विद्या के अङ्ग के रूप में हैं। जिसका संकेत मनुस्मृति में आये हुए **अधीयीत पद** के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में किया है। वे लिखते हैं कि गायत्री मन्त्र का उच्चारण, अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल चलन को करें। परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है। अर्थात् उच्चारण एवं अर्थज्ञान के साथ अपने आचरण को तद्नुकूल करने पर गायत्री का जप पूर्ण होता है।

गोपथ ब्राह्मण में इस सावित्री विद्या के रहस्य को मौद्गल्य एवं मैत्रेय के संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। गोपथ ब्राह्मण कहता है कि **सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य** (प्रकाशवान् सविता के अति श्रेष्ठ तेज को) इस अंश से **कवयः वेदाः छन्दांसि** (ऋषि लोग, वेद और सभी छन्द) **अन्नमाहुः** (अर्थात् उस परमात्मा का कथन करते हैं।) **धियः** (कर्मों को) **ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति** (तुझे बताता हूं जिनको सविता आगे बढ़ाता है।)

इस सावित्री विद्या में दो तत्त्व हैं- सविता और सावित्री (अर्थात् सविता के कर्म)। अत एव ब्राह्मण कहता है कि **भो अधीहि कः सवित?**

---

[४] मनुस्मृति २.१०४

का सावित्री?[5] सविता एवं सावित्री इस युग्म के मध्य प्रेरक, प्रेरक शक्ति एवं प्रेरक शक्ति के कर्म का विज्ञान ही सावित्री विद्या है। सावित्री में जो शक्ति है, वह सविता की है। सविता और सावित्री में वही सम्बन्ध है, जो शरीर और प्राण में है। प्राणी के अस्तित्व को प्रकाश एवं अनुभव में लाने के लिए शरीर चाहिए और शरीर सजीव बना रहे, उसके लिए उसमें प्राण की स्थिति आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की गति नहीं, स्थिति नहीं, उपयोगिता नहीं, शोभा नहीं। इसी प्रकार सविता और सावित्री एक दूसरे के लिए जुड़े हुए हैं। दोनों का एक मिश्रित युग्म है। अत एव गोपथ ब्राह्मण १२ युग्मों का वर्णन सावित्री विद्या के रूप में करता है। ब्राह्मण कहता है कि मन ही सविता है और वाणी सावित्री है। अर्थात् वाणी को उत्पन्न करने वाला मन है। मन की शक्ति से ही प्रेरित होकर वाणी अपने स्वरूप को धारण कर पाती है। जो विचार मन में होते हैं, वाणी उनका वर्णन करती है। जो वाणी के द्वारा व्यक्त किया जाता है वह सब मन का ही प्रभाव होता है। इन दोनों का एक मिश्रित युग्म है। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं।[6] गोपथ ब्राह्मण ने सावित्री विद्या को समझाने के लिए इसी प्रकार के ११ और युग्मों का वर्णन किया है, जो निम्नलिखित हैं-

१. अग्नि सविता और पृथ्वी सावित्री
२. वायु सविता और अन्तरिक्ष सावित्री
३. आदित्य सविता और सावित्री

---

[5]गोपथ पूर्वभाग १.३२
[6]मन एव सविता वाक् सावित्री। गोपथ पूर्वभाग १.३३

४. चन्द्रमा सविता और नक्षत्र सावित्री

५. दिन सविता और रात्रि सावित्री

६. ताप सविता और शीत सावित्री

७. मेघ सविता और वर्षा सावित्री

८. विद्युत् सविता और गर्जना सावित्री

९. प्राण सविता और अन्न सावित्री

१०. वेद सविता और चन्द्र सावित्री

११. यज्ञ सविता और दक्षिणा सावित्री

गोपथ ब्राह्मण कहता है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि के प्रेरक सवितास्वरूप परमपिता परमात्मा ने ही इस सावित्री विद्या का विस्तार एवं प्रचार प्रसार किया है।[७] उस परमपिता परमात्मा ने ही इस सावित्री विद्या का ज्ञान मनुष्य के अन्तःकरण में प्रकाशित कर उसे ब्रह्मज्ञानी बनाया है। स्वयं परमपिता ने इस सावित्री विद्या का उपदेश सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्यों को दिया।

गोपथ ब्राह्मण सावित्री विद्या के रहस्य को प्रकट करते हुए कहता है कि जब मनुष्य गायत्री मन्त्र के प्रथम पाद का जप, उच्चारण आदि करे तो वह परमात्मा के अति श्रेष्ठ तेज का इस प्रकार मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन करे कि उस परमात्मा ने पृथ्वी के साथ ऋक् को अर्थात् (स्तुति विद्या को), ऋक् के साथ अग्नि को, अग्नि के साथ श्री को, श्री के साथ स्त्री को, स्त्री के साथ पुरुष सहयोग को, मिथुन (जोड़े) के साथ

---

[७] ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामैक्षत, स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्री पर्य्यदधात्। गोपथ पूर्वभाग १.३४

सन्तान को, प्रजा के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (ज्ञान) को, ब्रह्म के साथ ब्रह्मज्ञानी को, ब्रह्मज्ञानी के साथ व्रत (धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि) को जोड़ा है।[८] यह सब उस सवितृस्वरूप परमपिता का ही तेज है, जो उपर्युक्त रूप में विस्तृत एवं प्रकाशित रहा है।

गोपथ ब्राह्मण गायत्री मन्त्र के द्वितीय पाद के रहस्य को वर्णित करते हुए कहता है कि जब मनुष्य गायत्री मन्त्र के द्वितीय पाद का उच्चारण एवं जप करें तो वह परमात्मा के स्वरूप का निम्न रूप में मनन चिन्तन करें कि अन्तरिक्ष के साथ यजुः (सगति कर्म) को, यजुः के साथ वायु को, वायु के साथ मेघ को, मेघ के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों और वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ जीवों को, जीवों के साथ कर्म को, कर्म के साथ जप को, जप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (ज्ञान) को, ब्रह्म के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) को ब्राह्मण के साथ व्रत (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि) को जोड़ा है।[९] अर्थात् यह सब कुछ उस परमात्मा की शक्ति से ही प्रकाशित हो रहा है।

गोपथ ब्राह्मण गायत्री के तृतीय पाद के रहस्य को प्रकट करते हुए कहता है कि जब गायत्री के तृतीय पाद का जप आदि करे तो परमात्मा के निम्न स्वरूप का चिन्तन करें कि द्यौ के साथ साम को, साम के साथ आदित्य को, आदित्य के साथ रश्मियों को, रश्मियों के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों और वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों

---

[८] पृथिव्यर्चं समदधात्, ऋचा अग्निम्, अग्निना श्रियम्.... गोपथ पूर्वभाग १.३४

[९] अन्तरिक्षेण यजु समदधात्, यजुषा वायुम्, वायुना अभ्रम्.... गोपथ पूर्वभाग १.३५

के साथ जीवों को, जीवों के साथ कर्म को, कर्म के साथ जप को, जप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (ज्ञान) को ब्रह्म के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) को ब्राह्मण के साथ व्रत (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि) को जोड़ा है।[१०]

इस प्रकार जो विद्वान साधक निरन्तर मन, वचन और कर्म से सावित्री का मनन चिन्तन करता रहता है, वह इन भौतिक तत्त्वों में उस सविता की शक्ति का साक्षात् करते हुए सत्य ज्ञान से परम गति को प्राप्त करता है। इस जगत् की कार्य कारण परम्परा का अनुसन्धान करते हुए वह धीरे-धीरे परमात्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है।

जिसका वर्णन करते हुए ब्राह्मण कहता है कि यह सम्पूर्ण यज्ञ वेदों में प्रतिष्ठित है। वेद वाणी में प्रतिष्ठित है। वाणी मन में प्रतिष्ठित है। मन प्राण में स्थित है। प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है। भूमि जल में प्रतिष्ठित है। जल आकाश में प्रतिष्ठित है। आकाश पवन में प्रतिष्ठित है। आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म ब्रह्मविद् में प्रतिष्ठित है।[११]

इस प्रकार जो विद्वान् साधक सतत मन, वचन और कर्म से सावित्री का मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासन करता रहता है। वह साधक विद्वान वेदों की माता सावित्रीरूप ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर लेता है।[१२] गोपथ ब्राह्मण में वर्णित सावित्री विद्या वस्तुतः ब्रह्मविद्या ही है। यह

---

[१०] दिवा साम समदधात्, साम्ना आदित्यम्, आदित्येन अग्निम्... गोपथ पूर्वभाग १.३६

[११]अयं वेदेषु प्रतिष्ठितो, वेदा वाचि प्रतिष्ठिता, वाक् मनसि प्रतिष्ठिता... गोपथ पूर्वभाग १.३७

[१२]श्रियमश्नुते य एवं वेद यश्चैवं विद्वान् एवमेव एतां वेदानां मातरं सावित्री संपदमुपनिषदमुपास्ते इति। गोपथ पूर्वभाग १.३७

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की विद्या है, जिस प्रकार से उपनिषदों में विविध प्रकार से ब्रह्म का अनुसन्धान करने की विविध विद्याओं का वर्णन है, उसी प्रकार यह सावित्री विद्या भी सविता और सावित्री के रूप में दो तत्त्वों का चिंतन करते हुए अन्ततः सवितृस्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित होने की विद्या है। जैसा कि उपनिषदों का उद्घोष है-**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**

गोपथ-ब्राह्मण में यज्ञ का स्वरूप

डा० अनीता रानी[१]

गोपथ-ब्राह्मण अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ है। गोपथ ऋषि द्वारा इस ग्रन्थ (गोपथ ब्राह्मण) की रचना की गई थी। अथर्ववेद की अवधारणा तथा कैवल्य का उल्लेख गोपथ-ब्राह्मण में ही है। अग्निष्टोम तथा अश्वमेध जैसे यज्ञों के विधि-विधान के अतिरिक्त ओ३म् तथा गायत्री की महिमा का वर्णन भी गोपथ-ब्राह्मण में मिलता है। वैदिक वाङ्मय की परम्परा में अथर्ववेद के गोपथ-ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण स्थान सर्वसम्मत है।[२] सुदीर्घकाल तक अथर्ववेद की शाखा के सम्बन्ध के विषय में अनिश्चय की स्थिति बनी रही क्योंकि अथर्ववेद की नौ शाखाओं में से केवल शौनकीय शाखा विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित रही। शौनकीय शाखा के मन्त्रों का निर्देश भी गोपथ-ब्राह्मण में प्रतीकों के द्वारा किया गया। यद्यपि वर्तमान में उपलब्ध ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणों की तुलना में यह सर्वाधिक उपेक्षित ग्रन्थ है, ऐसा निश्चित रूप से उसके बहुसंख्य भ्रष्टपाठों, मूल संस्करणों की न्यूनताओं एवं इसके किसी भी भाष्य की

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत-विभाग, चमन लाल महाविद्यालय, लण्ढौरा, हरिद्वार**

[२] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्, सम्पादक- आचार्या डॉ० प्रज्ञादेवी, प्रकाशन-चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली।

अनुपलब्धि को देखकर कहा जा सकता है। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य में '**नवधाऽऽथर्वणो वेदः**'[३] अथर्ववेद की नौ शाखायें थी, ऐसा उल्लिखित है। पैप्पलाद शाखा का गोपथ-ब्राह्मण आज उपलब्ध है।

ब्राह्मण ग्रन्थ का वैदिक वाङ्मय के वरीयता क्रम में द्वितीय स्थान है, जिसमें गद्यरूप में देवताओं तथा यज्ञ की रहस्यमय व्याख्या की गई है और मन्त्रों पर भाष्य भी दिया गया है। इनकी भाषा वैदिक संस्कृत है। प्रत्येक वेद का एक या एक से अधिक ब्राह्मण ग्रन्थ हैं तथा प्रत्येक वेद की अपनी अलग-अलग शाखाएँ है। ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्रों के अर्थ करने में सहायक रहे हैं।

गोपथ ब्राह्मण का अर्थ है- गो, वाणी अर्थात् वेदवाणी, भूमि अर्थात् पृथिवी का राज्य और स्वर्ग अर्थात् सुख पाने के मार्ग का ईश्वरीय वा वैदिक ज्ञान। अर्थात् इस ग्रन्थ के पढ़ने से, राज्य प्रबन्ध करने और परम आनन्द पाने के लिए मनुष्य का पुरुषार्थ बढ़ता है।[४]

गोपथ शब्द यहाँ गोपता से निष्पन्न माना गया है। अथर्वांगिरसों की प्रसिद्धि गोप्ता (रक्षक) रूप में है- **अथर्वांगिरसो गोप्तारस्तं...।**[५] वेदों के अर्थ के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञों एवं कर्मकाण्डों की क्रिया विधियों को भली-भाँति समझाने का प्रयास किया।

अधिकांशतः ब्राह्मण-ग्रन्थ गद्य में लिखे गए हैं- ब्राह्मण-ग्रन्थों से हमें उत्तरकालीन समाज और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है। जब ब्रह्मा सर्ववेदवेत्ता और कर्म-कुशल होता है, तब यजमान का यज्ञ सफल होता

---

[३] महाभाष्य पस्पशाह्निक १-१-१

[४] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्

[५] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् १-१३

है।[६] यज्ञ कराने के विषय में भी गोपथ-ब्राह्मण में बताया गया है कि अश्लील, कुमार्गी पुरुष से यज्ञ नहीं कराना चाहिये अपितु वेदज्ञानी, सुशील विद्वान् पुरुष से यज्ञ कराने पर यज्ञ से उचित फल की प्राप्ति होती है।[७] वैदिक यज्ञ प्रकाश का स्रोत है। यज्ञहीन व्यक्ति का आन्तरिक जगत् प्रकाश शून्य हो जाता है।[८] ऋग्वेद में ऐसे व्यक्ति की निन्दा की गई है जो न तो स्वयं यज्ञ करते हैं और न ही किसी अन्य व्यक्ति को करने देते हैं। इस प्रकार देवयज्ञ और नृयज्ञ की अवहेलना करने वाले व्यक्ति यदि देवताओं के ज्योति स्वरूप यज्ञ को नष्ट करना चाहते हैं तो वे दण्डित होते हैं।[९] मनुष्यों को योग्य है कि वह ऋग्वेदी को होता, यजुर्वेदी को अध्वर्यु, सामवेदी को उद्गाता और चारों वेद जानने वाले को ब्रह्मा वरण करके यज्ञ की सिद्धि करे तो उसे यज्ञ में सफलता मिलती है।[१०]

ब्रह्म-यज्ञ और उसकी त्रुटि में अनिष्ट फल- उन सब पदार्थों को वह परमात्मा लाया जिससे उसने यज्ञ किया। इस यज्ञ का (होता) हवन करने वाला अग्नि हुआ। वायु (अध्वर्यु) प्राण व जीवन वायु, अहिंसा चाहने वाला। सूर्य (उद्गाता) वेदों को उत्तम गाने वाला। चन्द्रमा (ब्रह्मा) वेदों को जानने वाला। सोमलता आदि ओषधि और वनस्पतियाँ (यज्ञ के पात्र) चमचे तथा अहिंसा चाहने वाले मनुष्य इस व्यापक ब्रह्म को जानने से पहले, वेदों के पढ़ने वाले एक साथ मन्त्रों को पूरा करके सब स्थान पर इसका प्रसार करते हैं, वे अवश्य ही ज्ञानी कहलाते हैं। प्रजापति ब्रह्मा

---

[६] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् १-१५

[७] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् २-१३

[८] ऋग्वेद २-२८-७

[९] ऋग्वेद २-२३-८ तथा १६, ६-६७-९

[१०] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् २-९

कहता है कि जब यज्ञ करने वाले अयोग्य एवं ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले होते हैं, तब यज्ञ का नाश होता है। यज्ञ के नष्ट होने से यजमान, याचक, सर्वविध सुख, योगक्षेम सभी की हानि होती है। इन सबसे बचने के लिए जो यज्ञ करते हैं, वह ब्राह्मण (वेदों के ज्ञानी) हैं।[११]

गोपथ-ब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण कहा जाता है, परन्तु उसमें यज्ञ करने के लिए चारों वेदों के मन्त्रों का विनियोग है। गोपथ में यज्ञ विषय (अर्थात् आहवनीय आदि अग्नियों द्वारा वेद मन्त्रों से अग्नि प्रज्ज्वलन) दीख पड़ता है। परन्तु वस्तुतः आत्मिक यज्ञ अर्थात् आत्मा की उन्नति से पुरुषार्थ बढ़ाकर अन्न, प्रजा, पशु और स्वर्ग (सुख) की प्राप्ति का विधान वेद मन्त्रों द्वारा वर्णित है। (**या वाक्, सोऽग्निः, यः प्राणः स वरुणः, यन्मनः स इन्द्रः यच्चक्षुः स बृहस्पतिः, यच्छोत्रं स विष्णुः**) जो वाणी है, वह अग्नि है, जो प्राण है, वह वरुण है, जो मन है, वह इन्द्र है, जो आँख है, वह बृहस्पति है, जो कान है, वह विष्णु है।[१२] ये यज्ञ के देवता हैं- (**पुरुषो वै यज्ञः, तस्य शिर एव हविर्धानम्, मुखमाहवनीयः, उदर सद्** इत्यादि-गो० उ० ५-४)। पुरुष ही यज्ञ है, उसका शिर ही हविर्धान (हवि का स्थान), मुख आहवनीय (यज्ञाग्नि) और उदर सद् (सभाशाला) है इत्यादि (**प्रतिष्ठित प्रजया पशुभि य एव वेद** - गो०उ० ६-१२)।[१३]

मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक यज्ञ के साथ आत्मिक यज्ञ का विचार करते रहें। कहने का अभिप्राय यह है कि सांसारिक यज्ञ करने के साथ-साथ अपने मन को भी पवित्र करते रहना चाहिए। उसे अपने आप

---

[११] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् १-१३

[१२] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्

[१३] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्

को बुरी आदतों से बचाना चाहिए।[१४] मनुष्यों को भौतिक यज्ञ के साथ परमात्मा और जीवात्मा का भी विचार करना चाहिए।[१५]

यज्ञ के दोष निवारण से इष्ट-फल की प्राप्ति- जहाँ ऋत्विज् लोग (विद्वान्) क्रिया-कुशल होते हैं, वहाँ यज्ञ की समाप्ति उत्तमता के साथ होती है और सब यजमान तथा ऋत्विजों के आनन्द तथा सम्पत्ति में वृद्धि होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब हम यज्ञ करते समय कोई भूल नहीं करते और यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करते हैं, तब हमें उत्तम फल की प्राप्ति होती है।[१६] जो मनुष्य चारों वेदों को विचारकर श्रेष्ठ कर्म करता है, वही सिद्धि पाता है- **चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा...।**[१७] भारतीय संस्कृति में १६ संस्कारों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। यह संस्कार गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक होते हैं। शुभ कार्य करने के लिए सर्वप्रथम अग्नि को आधान करके कार्य करते हैं। इसी सन्दर्भ में गोपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष गर्भाधान आदि संस्कारों को अग्निहोत्र के साथ करके जीवन सफल करे- **(यस्य गर्भाधान-पुंसवन- सीमन्तोन्नयन- जातकर्म- नामकरण- निष्क्रमण- अन्नप्राशन- गोदान- चूड़ाकरण- उपनयन- प्लावन- अग्निहोत्र- व्रतचय- आदीनि कृतानि भवन्ति स...)**[१८]। गोपथ-ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि यदि यज्ञ को करने वाला ऋत्विज् कार्य में कुशल नहीं है तो यज्ञ पूर्ण नहीं होता अपितु उसमें विघ्न पड़ता है- **प्रजापतिर्यज्ञमतनुत, स ऋचैव हौत्रमकरोत्...।**[१९] यज्ञ

---

[१४] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् २-१४

[१५] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् २-१५

[१६] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् १-१४

[१७] ऋग्वेद ४-५८-३

[१८] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम्२-२३

[१९] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् ३-२

करते समय यदि कोई त्रुटि हो जाती है तो उसका प्रायश्चित कर देने से यज्ञ की सिद्धि और यजमान की वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थ में लिखा है कि अरुण के पुत्र श्वेतकेतु ब्रह्मा को बोलते हुए देखकर कहने लगा कि मेरे इस यज्ञ का आधा भाग छिप गया है इसलिए ब्रह्मा दो बहि पवमान स्तोत्र को (वाणी रोककर चुपचाप) दो पहर तक बोलता है। जो पुरुष यज्ञ की समाप्ति तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद की त्रुटियों को रोके तथा गार्हपत्य, आहवनीय अग्नि से ही हवन करे (**तदु ह स्माह श्वेतकेतुरारुणेयो**) वह समस्त सुखों को प्राप्त करता है।[२०]

गोपथ-ब्राह्मण में देखने को मिलता है कि यज्ञ करते समय यदि अग्नि (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय) हवा आदि के कारण प्रज्ज्वलित न हो तो अग्नि के अभाव में मनुष्य मानसिक हवन करे अर्थात् वह अपने मन में ही मन्त्रों को बोलकर यज्ञ करे।[२१] पुत्रेष्टि यज्ञ के विषय में रामायण महाकाव्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अयोध्या के राजा दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए श्रृंगि ऋषि से पुत्रेष्टि यज्ञ कराया था। जिसके पश्चात् उन्हें चार पुत्ररत्न प्राप्त हुए। पुत्रेष्टि यज्ञ का विधान गोपथ-ब्राह्मण में दिया गया है।[२२] गोपथ-ब्राह्मण के चतुर्थ प्रपाठक तथा कण्डिका ८ में अठ्ठारह प्रकार के यज्ञ और उसके फल तथा अग्निष्टोम का वर्णन है। गोपथ-ब्राह्मण के पूर्वभाग के ५ प्रपाठक तथा कण्डिका ७ में पन्द्रह प्रकार के यज्ञों का क्रम, जिसमें राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध आदि सम्मिलित हैं- **अथातो यज्ञक्रमो अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः...।**[२३]

---

[२०] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् ३-३

[२१] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् ३-१३

[२२] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् ३-२३

[२३] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् ५-७

जो मनुष्य यज्ञ के विविध अङ्गों को जानकर उनका उचित प्रयोग करता है वह संवत्सर (काल) के समान विजयी होता है। गोपथ-ब्राह्मण के उत्तरभाग के प्रपाठक १-४ में यज्ञों के विघ्नों के नाश और यज्ञ के आरम्भ का विधान प्रदर्शित होता है- **अग्रेण परिहरति तीर्थेनैव परिहरति वि वा एतद्यज्ञश्छिद्यते यत्...।**[२४]

जब मनुष्य द्वारा उगाई गई फसल पककर तैयार हो जाती है, तब वह नवीन अन्न से यज्ञ करते हैं अर्थात् देवताओं को समर्पित करते हैं तो इससे मनुष्य का बल और वीर्य बढ़ता है।[२५] **द्वया वै देवा यजमानस्य गृहमागच्छन्ति सोमपा अन्येऽसोमपा...** जब यज्ञ किया जाता है तो उसमें दो प्रकार के देवता आते हैं एक सोम या दूसरे असोमपा, अथवा एक हुताद् और दूसरे अहुताद् उनका वर्णन गोपथ-ब्राह्मण के उत्तरभाग के प्रपाठक १-६ में हमें मिलता है। यज्ञों को यदि (यथाविधि) सही प्रकार से किया जाए तो मनुष्य दुःखों से छूट जाता है। इसीलिए यज्ञ का प्रारम्भ और समाप्ति यथाविधि होनी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोपथ ब्राह्मण में विविध ज्ञान विज्ञान की चर्चा के साथ-साथ यज्ञ का स्वरूप, उसमें निहित ज्ञान विज्ञान एवं उसके महत्त्व का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

---

[२४] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् उ० १-४

[२५] गोपथ-ब्राह्मण भाष्यम् उ० १-१८

गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिस्वरूपम्

राधा[1]

समाजव्यवस्था सुव्यवस्थिता स्यात् एतदर्थं प्राचीनकाले आश्रमव्यवस्था वर्णव्यवस्था च क्रियेते स्म। यथा वर्णव्यवस्था चतुर्धा विभक्ता वर्तते तथैव आश्रमव्यवस्थाऽपि चतुर्धा विभज्यते।

वर्णाः- ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।

आश्रमाः- ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाः।

ग्रन्थेषु शास्त्रेषु वैतेषां वर्णनं विशदरूपेण प्राप्यते। आश्रमव्यवस्था इत्यत्र आश्रमशब्दस्य प्रयोगः सर्वप्रथमस्तावत् श्वेताश्वतरोपनिषदि प्राप्यते। यत्र ब्रह्मविद्यास्थानं सर्वतोऽपरि गण्यते, अर्थात् आश्रमाणां ये क्रियाकलापास्तत्र ब्रह्मविद्यैव प्रशस्तीकरणं धारयति। ब्रह्मविद्याविषय एव प्रशस्यः श्रेष्ठश्च[2]। आश्रमशब्दस्य व्युत्पत्तिर्दीयते - **आ श्राम्यन्ति अस्मिन्निति आश्रमाः** अर्थात् एतादृशी जीवनशैली यस्यां कठोरपरिश्रमोऽपेक्षितः। अत एव आश्रमव्यवस्थायां कठोरनियमानां विधानं विद्यते। आश्रमव्यवस्था निर्दिशति यत् किं मानवजीवनलक्ष्यं, किञ्च सोपानं तस्येति। मानवजीवनस्य परमोद्देश्यं मोक्षप्राप्तिरिति, तत्

---

[1] **शोधच्छात्रा, गुरुकुल-काङ्गड़ी (समविश्वविद्यालयः), हरिद्वारम्**

[2] अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रम्० (श्वेता० ६/२२)

प्राप्तये क्रमशः प्रयत्नः कथं भवेदिति, एतादृशानां तथ्यानां विवेचनं नियमनं वा आश्रमव्यवस्थायां प्राप्यते। योगदर्शनानुसारं मानवजीवन लक्ष्यम्- सांसारिकाभ्युदयेन सहितं मोक्षप्राप्तिरिति- **भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।**[३]

अस्मै परमोद्देश्याय ब्रह्मचर्याश्रम आधारशिलारूपेण प्रतिष्ठितोऽस्ति।

आश्रमव्यवस्था भारतीयजीवनदर्शनस्य व्यावहारिकपक्षः। मनुरप्यस्मिन् विषये साक्षादुद्घोषयति—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥[४]

प्रकृतोपयोगित्वात् ब्रह्मचर्याश्रम एव सङ्क्षेपेणाऽत्र प्रस्तूयते—

'ब्रह्मचारी' इत्यत्र द्वयोः शब्दयोः संयोगः ब्रह्म+चारी ब्रह्मणि चरतीति -- ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म इति प्रणवः, ब्रह्म इति ज्ञानं, ब्रह्म इति रेतस् इत्युक्ते इत्येतेषु त्रिष्वपि अर्थेषु ब्रह्मचारी शब्दः प्रयुज्यते।

ब्रह्मचर्याश्रम उपनयनसंस्कारादेव प्रारभ्यते। उपनयनम् अर्थात् उप-निकषं समीपं, नयनं-प्रापणम्। ज्ञानप्राप्तये शिष्यं गुरोः समीपं नयतीति उपनयनम्। आचार्यः बालकमुपनीय तं तिस्रः रात्र्यः यावत् स्वगर्भमन्तः कृणोति, तद्यथोक्तम् अथर्ववेदे ब्रह्मचर्यसूक्ते मन्त्रद्रष्टा ऋषिणा-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥[५]

मन्त्रेऽस्मिन् रात्रिशब्दस्योल्लेखः, अत्र रात्रेः अज्ञानरूपेण अन्धकारेण साम्यमिष्यते, एतदर्थं मन्त्रेऽस्मिन् रात्रिशब्दस्योल्लेखः प्राप्यते,

---

[३] योग (२/१७)

[४] मनु (६/८७)

[५] अथर्ववेद (११/७)

इति विदुषां मतम्। यज्ञोपवीतसंस्कारेणैव बालकाय गायत्रीमन्त्रं दीयते। शतपथब्राह्मणे आपस्तम्बधर्मसूत्रे[६] च साक्षादुल्लेखः प्राप्यते- यदा तिस्र रात्र्यनन्तरं बालकस्य द्वितीयं जन्म भवति। तस्माद् कारणाद् तदाप्रभृत्येव सः द्विज इति उच्यते। यदा बालकः द्विजसञ्ज्ञां प्राप्नोति तदा प्रभृति आचार्यः तं द्विजशिष्यं सकल्पं सरहस्यं सर्वान् वेदान् अध्यापयति, ब्रह्मविद्याञ्च उपदिशति। मनुस्मृतावपि महर्षिणोक्तम्-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥[७]

ब्रह्मचर्याश्रमे वसन् कार्ष्णवस्त्रं धारयित्वा वेदाध्ययनं समाप्य सः दीक्षितो दीर्घश्मश्रुःस्वतेजसा बलेन ओजसा स्वतपसा श्रमेण च सर्वान्लोकान् पिपर्ति। गोपथब्राह्मणे महर्षिः निगदति[८]-

ब्रह्मचर्येति समिद्धा कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुरारिचक्रत्।

सः द्विजः समिधया, मेखलया, तपसा च लोकान् पुष्णाति। समिधया, मेखलया, तपसा च कथं पोषणं, तद्वर्णनं गोपथब्राह्मणे इत्थं प्राप्यते-

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधया मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥

समिदेव अग्निं धारयति, मेखला च तमग्निं मर्यादीकृत्य तिष्ठति। श्रमः शब्दोऽत्र स्थूलपुरुषस्य वाचकः, तपश्च सूक्ष्मपुरुषार्थस्य सूचकः, अर्थात् असौ ब्रह्मचारी शारीरिकबलमाध्यात्मिकबलञ्च धारयित्वा तं

---

[६] शत० ब्रा० (११/५/४/१२), आपस्तम्ब० (१/१/१६/१८)

[७] मनु० (२/१४०)

[८] गो०ब्रा० (२/७)

मर्यादितं कुर्यात्, तथा च स्थूलसूक्ष्मपुरुषार्थाभ्यां च लोकान् पुष्येत्, रक्षेत् च।

यदि ब्रह्मचर्यः मर्यादितः स्यात् तदा देवानामनुग्रहोऽपि स्यात् तथा च याः दिव्यशक्तयः तासां संग्रहोऽपि तस्यान्तःकरणे भवति। तस्मिन् देवाःसम्मनसो भवन्ति।[९]

ब्रह्मचारी वेदाध्ययनेन इन्द्रियदमनरूपेण तपोबलेन च सर्वान् सूर्यपृथिवीस्थूलसूक्ष्मपदार्थान् अभिज्ञाय संसारदुःखान् तरति।

यदा ब्रह्मचारिण उपनयनसंस्कारः सम्पन्नः तदैव अनेककर्तव्यानां निर्देशः आचार्यैः क्रियते- मृगचर्मधारणम्, मेखलाबन्धनम्, दीर्घशमश्रुः, समिधाचयनम्, भिक्षेत्यादयः।

इत्थं धर्मग्रन्थेषु ब्रह्मचर्यकर्तव्यानां वर्णनं विशदरूपेण प्राप्यते, अस्यां श्रृंखलायामेव गोपथब्राह्मणे ब्रह्मचारिणः कर्तव्येषु सप्तमनोरागानां दमनं कथं स्यात्, के च ते सप्तमनोरागाः, इत्यस्य वर्णनं विद्यते[१०]-

जायमानः ह वै ब्राह्मणः सप्त इन्द्रियाणि अभिजायन्ते, ब्रह्मवर्चसं च यशः च स्वप्नं च क्रोधं च श्लाघां च रूपं च पुण्यम् एव गन्धं सप्तमम्।

मृगान् अस्य ब्रह्मवर्चसं गच्छति, आचार्यं यशः, अजगरं स्वप्नः, वराहं क्रोधः, अपःश्लाघा, कुमारीं रूपम्, ओषधिवनस्पतीन् पुण्यः गन्धः।

अभिप्रायरूपेणात्राऽहं प्रस्तौमि-

अत्र सर्वप्रथमं ब्रह्मवर्चः उक्तमृषिणा। वेदाध्ययनेन ब्रह्मविद्यामधीत्य असौ ब्रह्मवर्चसी भूयात्, मृगेन अर्थात् मृगचर्मणा निर्मितानि वस्त्राणि धारयेत् यथा मृगः सिंहो वा।

---

[९] गो०ब्रा० (२/१)

[१०] गो०ब्रा० (२/२)

द्वितीयं यशः, ब्रह्मचारी आचार्यात् यशः प्राप्नोति अर्थात् सेवा-शुश्रूषामाध्यमेन आचार्यस्य प्रियं कुर्यात्, वेदाध्ययनञ्च कृत्वा यशः सिञ्चेत्।

अजगरं स्वप्नः, यथा अजगरः शयालुर्भवति तथा ब्रह्मचारी न भूयात्, निद्रामालस्यं वा त्यक्त्वा स्वकर्तव्यानि आचरेत्।

वराहं क्रोधः, यथा शूकरः वराहो वा क्रोधेन संलिप्य झटित्येव आक्रामति तथा ब्रह्मचारी न भवेत्, असौ धैर्यशाली विवेकवान् भूत्वा वाचं यमी भूयात्। इत्थं सर्वेषां किञ्चित् पृथक् वर्णनं गोपथब्राह्मणे प्राप्यते। अयमेव निर्देशः तत्र प्राप्यते यत् ब्रह्मचारी रागद्वेषान् संत्यज्य वेदानधीत्य ब्रह्मवर्चसी भवति।

अन्यदपि उक्तम्-

सः वै एषः उपनयन् चतुर्धा उपैति[११] --

पादेन अग्निम्। पादेन आचार्यम्। पादेन ग्रामम्। पादेन मृत्युम्।

ब्रह्मचारी अग्निहोत्रस्य कृते समिधाचयनं करोति, तदा अग्निं सवते। यदा आचार्यसेवाशुश्रूषां कृत्वा सम्यक्रूपेण वेदानधीते तदा आचार्यं सेवते। यदा भिक्षाटनं कृत्वा भोजनं गृह्णाति तदा ग्रामं सेवते। यदा क्रुद्धेन वाचा कञ्चन न हिनस्ति तदा मृत्युं सेवते अर्थात् क्रोधिस्वभावं (क्रोधं त्यक्त्वा) त्यजति तदा मृत्युं स्ववशे कृत्वा मृत्युं सेवते। गीतायां भगवता वासुदेवेनोच्यते-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ गीता २.६३

इत्थं क्रोधं त्यक्त्वा मृत्युं स्ववशे करोति। अर्थात् असौ ब्रह्मचारी प्रतिदिनमग्निहोत्रं कुर्यात्। आचार्यसेवां भिक्षाटनं च कुर्वन्

---

[११] गो०ब्रा० (२/३)

नम्रस्वभावयुक्तः सन् ऐश्वर्यवान् भवति। एतानि नित्यकर्तव्यानि ब्रह्मचारिणः कृते शास्त्रोक्तानि विद्यन्ते।

ज्ञानब्रह्मविद्यारूपिकोशयोः प्राप्तिराचार्यसकाशादेव सम्भवति। तदा शिष्याय नियमः क्रियते यत् सः अधिकाधिकज्ञानं प्राप्य अध्यात्मयोगस्य शिक्षां प्राप्नुयात्। तथा प्रचार-प्रसारमाध्यमेन निधेरस्य संरक्षणाय प्रयत्नं विदध्यात्।

ब्रह्मचर्यस्य महत्त्वं प्रतिपादयन् अथर्ववेदे उक्तम्-

ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण मृत्युं विजयते।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥[१२]

ब्रह्मचर्येण तेजस्वितामोजस्विताञ्च प्राप्य असौ न केवलं स्वात्मानपितु अखिलसंसारमवति। ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्येण देवानामंशो भवति अर्थात् दिव्यगुणानां समावेशः तत्र दृश्यते[१३]--

ब्रह्मचारी ... स देवानां भवत्येकमङ्गम्।

राष्ट्ररक्षणायापि ब्रह्मचर्यपालनमावश्यकम्।[१४] पठन-पाठनाय च ब्रह्मचर्यपालनस्य सम्प्रति महती आवश्यकता वरीवर्ति-

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमृच्छते॥

यथा बालकानां कृते ब्रह्मचर्यमावश्यकं तथैव बालिकानां कृतेऽपि ब्रह्मचर्यमतीवावश्यकम्। यदा नारी ब्रह्मचारिणी भूत्वा वेदानध्यष्यते तदा परिवार-समाज-राष्ट्रस्य निर्माणं सम्भवं सरलञ्च भविष्यति। यतः-

स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

---

[१२] अ० (११/५/१९)

[१३] अ० (५/१७/५)

[१४] अ० (११/५/१७)

शास्त्रेषु ब्रह्मचारिकृते निर्देशः प्राप्यते यत्-असौ लोकहिताय जीवनं यापयेत्, वर्षातुल्यं सर्वेषां कृते पोषकः भवेत्, तथा च गुरुभ्यः वेदानधीत्य सम्यक् रूपेण स्वजीवने परिपाल्य तं निधिं विधिवत् यथाप्रयत्नं वा अवेत् रक्षेदिति।

गायत्री-स्वरूप विमर्श-
गोपथ ब्राह्मण के विशेष सन्दर्भ में

अंकुर कुमार आर्य[1]

आर्य संस्कृति के मूलोत्स वेद परमेव्योमन् से निसृत वाक् हैं। वेदों में गायत्री मन्त्र का अपना वैशिष्ट्य है। विश्वामित्र ऋषि के द्वारा दृष्ट गायत्री मन्त्र सर्वप्रथम ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में प्राप्त होता है।[2] यजुर्वेदीय परम्परा में गायत्री तथा सावित्री इष्टि के अग्नि स्थापन से पूर्व गायत्री मन्त्र का उल्लेख है, जिसमें सद्-बुद्धि हेतु सविता देवता से प्रार्थना की गयी है। इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के ३६वें अध्याय में भी गायत्री मन्त्र का उल्लेख मिलता है।[3] सामवेद में भी सामगायनों के प्रसङ्ग में गायत्री मन्त्र का प्रयोग प्राप्तव्य है।[4] अथर्ववेद में गायत्री को 'वेदों की माता' कहकर अत्यन्त सम्माननीय पद से सुशोभित किया गया है।

यास्कीय निरुक्त में 'गायत्री' का छन्द की दृष्टि से निर्वचन प्राप्त

---

[1] **शोधच्छात्र, वेद-विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी (सम-विश्वविद्यालय), हरिद्वार**

[2] ऋग्वेद - ३/६२/१०

[3] यजुर्वेद - ३/३५ तदेव - ३०/२, ३६/३

[4] सामवेद - १३/३/३

होता है जिसमें स्तुति के अर्थ में 'गै' धातु से 'गायत्री' का निर्वचन किया गया है। सन्दर्भित मन्त्र से देवों की स्तुति की गयी है, अतः इसका नाम गायत्री पड़ा। इसके अतिरिक्त यास्कीय निर्वचन शास्त्र में गायत्री के तीन चरण या पाद होते हैं। इस आधार पर भी 'गायत्री' का निर्वचन किया गया है अर्थात् त्रि एवं गमन को विपरीत करके गायत्री शब्द बना। इस प्रसङ्ग में गाते हुए ब्रह्मा के मुख से गिरने के कारण भी इसे गायत्री कहा गया है।[५]

गायत्री विषयक विचार गोपथ में जितना प्राप्त होता है, उतना भारतीय आर्ष परम्परा में अन्यत्र दुर्लभ है। गोपथ ब्राह्मण प्रथम प्रपाठक में 'गायत्री स्वरूप' पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उक्त क्रम में दो ऋषि मैत्रेय तथा मौद्गल्य के मध्य होने वाली शास्त्र चर्चा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मैत्रेय ऋषि को गोपथ ब्राह्मण में ग्लाव वंशीय ऋषि माना गया है जो सम्भवतः सामवेदी प्रतीत होता है। ब्लूमफील्ड के अनुसार 'ग्लाव' शब्द पञ्चविंश ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् में प्रयुक्त है।[६]

उक्त 'ग्लाव-वंशीय' 'मैत्रेय' के द्वारा 'सावित्री' के सन्दर्भ में प्रश्न करने पर ऋषि मौद्गल्य गायत्री स्वरूप विषयक वर्णन करते हुए कहते हैं कि - "मन ही सविता तथा वाणी सावित्री, अग्नि ही सविता और पृथिवी सावित्री, वायु ही सविता तथा अन्तरिक्ष सावित्री, आदित्य ही सविता और द्युलोक सावित्री, चन्द्रमा ही सविता तथा नक्षत्र सावित्री, दिन ही

---

[५] निरुक्त-सप्तम अध्याय त्रि+गम=गमत्रि=गायत्रि=गायत्री गायत्री गायतेः स्तुति कर्मणः त्रिमगना वा विपरीता। गायतो मुखादुदपतत इति।

[६] अथर्व. और गो.ब्रा., चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, अनु.- सूर्यकान्त- पृष्ठ-२३४

सविता और रात्रि सावित्री, ऊष्ण ही सविता तथा शीत सावित्री, मेघ ही सविता और वर्षा सावित्री, विद्युत् ही सविता और गर्जनशक्ति सावित्री, प्राण ही सविता और अन्न सावित्री, वेद ही सविता और छन्द सावित्री तथा यज्ञ ही सविता और दक्षिणा सावित्री है। इस प्रकार यह दो उत्पत्ति स्थान तथा एक जोड़ा है। इन सबको मिलाकर बारह जोड़े तथा चौबीस उत्पत्ति स्थान हैं।"[७] ऋषि मौद्गल्य गायत्री विषयक वर्णन से ज्ञात होता है कि कोई भी वस्तु एकाकी प्रकट नहीं हो सकती है। अव्यक्त पदार्थ तभी व्यक्त हो सकता है जब अव्यक्त पदार्थ की शक्ति का प्रकटीकरण होता है। यह अव्यक्त परमात्मारूपी सविता स्वशक्ति सावित्री के द्वारा सर्व साधारण जगत् स्वरूप प्रकट होता है अथवा व्यक्त होता है।

उक्त सन्दर्भ में गोपथ ब्राह्मण में गायत्री विषयक सूक्ष्म विचार के द्वारा गायत्री को श्री के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और ब्रह्म के द्वारा दृष्ट कहा गया है।[८] गायत्री के प्रथम चरण अर्थात् '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**'[९] को परमात्मा ने सविता के साथ उत्पन्न किया। अतः इसे ही सावित्री कहा है । उक्त सन्दर्भ का (प्रथम पाद विषयक) विश्लेषण करते हुए गोपथ ब्राह्मण का ऋषि कहता है कि - "पृथ्वी के साथ ऋग्, ऋग् से अग्नि, अग्नि के साथ श्री, श्री से स्त्री, स्त्री से मिथुन, मिथुन से प्रज्ञा, प्रज्ञा से कर्म, कर्म से तप, तप से सत्य, सत्य से ब्रह्म (वेदज्ञान), ब्रह्म से ब्राह्मण और ब्राह्मण से व्रत को धारण किया।[१०]

गायत्री मन्त्र के प्रथम चरण को 'भूः' इस व्याहृति का प्रतिनिधि

---

[७] गोपथ ब्राह्मण - १/१/३३

[८] ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत, गोपथ ब्राह्मण - १/१/३५

[९] तत्सवितुर्वरेण्यम् इति सावित्र्या प्रथमः पादः गोपथ ब्राह्मण - १/१/३५

[१०] गोपथ ब्राह्मण - १/१/३५

कहा जाता है। गायत्री के तीनों चरणों का सम्बन्ध तीन व्याहृतियों से है। 'भूः' यह व्याहृति पृथ्वी लोक की वाचक है। पृथ्वी को पृथ्वी के निवासियों से, ऋक् को ज्ञान से सम्बद्ध किया, ज्ञान से अग्नि अर्थात् क्रिया को सम्बद्ध किया और क्रिया अर्थात् अग्नि को श्री से संयुक्त कर दिया। श्री को स्त्री से संयुक्त किया तो मैत्री हुई तथा इस मैत्री से प्रजा की उत्पत्ति हुई। प्रजाओं के द्वारा कर्म हुए और इन कर्मों को तप का नाम दिया, क्योंकि यह कर्म सत्य से परिपूर्ण था। सत्य का मार्ग होने से यह कर्म ब्रह्म प्राप्ति का साधन बना। ब्रह्म-प्राप्ति अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ही ब्राह्मण हुआ तथा ब्राह्मण ने जिस आदर्शवादी व्रत सदाचरण का पालन किया, उससे वह सुतीक्ष्ण परिपूर्ण और अखण्डित हुआ। यही गोपथ ब्राह्मण का अभिप्राय है। प्रस्तुतांश में गोपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म के ज्ञाता को ब्राह्मण कहा है ।

सावित्री के प्रथम चरण को जानने के पश्चात् व्यक्ति व्रतशील, संयमी तथा विद्वान् हो जाता है, उसका वंश अविच्छिन्न हो जाता है।[११] उक्त व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी, ऋग्, अग्नि, श्री आदि का परस्पर अन्तः सम्बन्ध है। इस प्रकार गायत्री के प्रथमचरण का गाम्भीर्यपूर्वक विश्लेषण किया गया है। सावित्री के द्वितीय चरण को '**भर्गो देवस्य धीमहि**'[१२] के रूप में गोपथब्राह्मण में सम्बोधित किया गया है। इस चरण के विश्लेषण में भी अन्तरिक्ष, यजुष्, वायु, जल, मेघ, वर्षा, ओषधि, वनस्पति आदि का सम्बन्ध बताते हुए कहा है कि इसको जानने वाला व्रतयुक्त होता है।[१३]

---

[११] व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवति अशून्यो भवति अविच्छिन्नो भवति, गो.ब्रा.- १/१/३५

[१२] भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्या द्वितीय : पादः, गोपथब्राह्मण - १/१/३५

[१३] तत्रैव

सावित्री के तृतीय तथा अन्तिम चरण अर्थात् '**धियो यो नः प्रचोदयात्**'[१४] की व्याख्या करते हुए इसका सम्बन्ध द्युलोक, साम, आदित्य आदि से बताया है तथा इसके ज्ञान के समझने और जानने वाले को 'व्रतशील' कहा है।[१५]

गोपथब्राह्मण में गायत्री के उक्त तीनों चरणों की व्याख्या में एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। सिद्धान्त है कि जो उसे जानता है वह 'व्रतशील' है। जो इन गायत्री पादों को गोपथब्राह्मण मत पुरस्सर जानता और समझता है उसका जीवन कपट रहित, शान्त, स्थिर और आनन्दमय हो जाता है।

उक्त तीनों चरणों में यह विज्ञान सन्निहित है, जिससे मानवीय जीवन में श्री, प्रतिष्ठा और ज्ञान की उपलब्धि होती है। तीन पाद तीन वेदों से बने हैं तथा प्रत्येक पाद तीन-तीन लोकों का प्रतीक है, इन तीन लोकों से यह तीन वेदों के मन्त्र आवश्यक सामग्री को कर्षित कर देते हैं और गायत्री के उपासक को सब प्रकार से सुखी बना देते हैं। इसका लाभ न केवल व्यक्तिगत बल्कि सामूहिक रूप से भी सबको मिलता है। जैसे यज्ञ करने से वायु की शुद्धि, उत्तम वर्षा और अनेक गुणकारी ओषधियों, वनस्पतियों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही गायत्री के द्वारा भी सबको लाभ प्राप्त होता है। गोपथ ब्राह्मण प्रतिपादित करता है कि गायत्री का ज्ञाता और अनुष्ठाता भौतिकरूप से श्री, प्रतिष्ठा एवं ज्ञान को प्राप्त करता ही है साथ ही अन्त में ईश्वर की प्राप्ति भी करके अपने जीवन को अविच्छिन्न या अमर बना लेता है। वह जरामरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो ऐसा जानता है, वही गायत्री के रहस्य को जानता है।

---

[१४] धियो यो न : प्रचोदयादिति सावित्र्या तृतीयः पादः, गोपथब्राह्मण - १/१/३६

[१५] तत्रैव

गोपथ ब्राह्मण में सावित्री वर्णन प्रसङ्ग में १२ (बारह) महातत्त्वों पर भी चर्चा की गयी है, जिसमें प्रमुखतया ब्रह्म, आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि, अन्न, प्राण, मन, वाणी, वेद, यज्ञ विषयक चर्चा प्राप्त होती हैं।[१६] इस चर्चा में यज्ञ को श्रेष्ठ कहा गया है। उक्त द्वादश तत्त्वों को विधिपूर्वक जान लेने वाला ब्रह्मज्ञानी, पुण्यवान्, कीर्तिमान् तथा सुन्दर गन्धों को प्राप्त कर लेता है।[१७] यह गायत्री मन्त्र सम्पूर्ण श्री का दाता, अनन्त श्री वाला एवं वेदों की माता है।[१८] गायत्री विषयक विवेचना करते हुए गोपथब्राह्मण के ऋषि ने इसे उपनिषद् कहा है जो इसकी महत्ता का सूचक है।[१९] यह मन्त्र सभी वेदों में सम्मानपूर्वक प्राप्तव्य है। वेदों में नहीं प्रत्युत श्रीमद्भगवद्गीता में पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं को गायत्री छन्द वाला कहते हैं।[२०]

स्मृतिग्रन्थों में भी सावित्री को श्रेष्ठ कहा गया है।[२१] ताण्ड्यब्राह्मण का ऋषि ब्रह्म को ही गायत्री कहता है।[२२] गायत्री की महत्ता इस बात से और अधिक हो जाती है कि इस मन्त्र में बुद्धि को सत् की ओर अग्रसर करने हेतु प्रार्थना की गयी है, जबकि अन्य अनेक वैदिक मन्त्रों में भौतिक समृद्धि पर अधिक बल दिया गया है।

गायत्री मन्त्र की विशेषता ही इसे उच्च कोटि के दार्शनिक मन्त्रों में

---

[१६] गोपथब्राह्मण - १/१/३७

[१७] यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित्। पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभीश्च गन्धान्, गो.ब्रा.१/१/३८

[१८] गोपथब्राह्मण - १/१/३८

[१९] सावित्रीं संपदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम् गोपथब्राह्मण - १/१/३८

[२०] बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्, श्रीमद्भगवतगीता - १०/३५

[२१] सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते, मनुस्मृति - २/८३

[२२] ब्रह्म हि गायत्री, ताण्ड्य ब्राह्मण - ११/११/९

प्रतिष्ठित करती है। गोपथब्राह्मण में गायत्री मन्त्र को दुःखों का अपहर्ता, बुद्धि का प्रेरक तथा अनन्त श्री को देने वाला कहा है।[२३] निश्चितरूपेण यह निःश्रेयस् का ही मार्ग है, जो अनन्त श्री का दाता है तथा यही विचार इसे गायत्र्युपनिषद् की महनीय संज्ञा से अभिहित करता है। केवल गोपथ में गायत्री को उपनिषद् नहीं कहा गया प्रत्युत जैमिनीयोपनिषद्-ब्राह्मण में समापन कथन में **"सैषा शाट्यायनी गायत्रस्योपनिषद् एवमुपासितव्या"**[२४] कहा गया है। उक्त ब्राह्मण ग्रन्थ का अवसान गायत्र्युपनिषद् कह कर किया है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गायत्री मन्त्र आज भी प्रासङ्गिक है तथा इसकी उपादेयता अनवरत बनी हुई है।

---

[२३] सोऽपहतपाप्मा, गोपथब्राह्मण - १/१/३८

[२४] जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण - ४/९/२/९

ऋग्वेद में वायु ऊर्जा

डा० योगेन्द्र कुमार धामा[१]

ऊर्जा शब्द **ऊर्ज बलप्राणनयोः**[२] धातु से सिद्ध होता है। जो बल अथवा प्राण है, वही ऊर्जा है। आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार कार्य करने की क्षमता को ऊर्जा कहते हैं। यह विभिन्न स्वरूपों में उपस्थित हो सकती है, जैसे- गति ऊर्जा, तापीय ऊर्जा, रासायनिक ऊर्जा, विद्युत् ऊर्जा इत्यादि। इसको न तो उत्पन्न किया जा सकता है और न ही नष्ट किया जा सकता है। ऊर्जा एक रूप से दूसरे में बदलती रहती है। सभी प्रकार की ऊर्जाएं मिलकर ब्रह्माण्ड की भौतिक वास्तविकता को प्रकट करती हैं। सभी भौतिक व रासायनिक प्रक्रमों के लिए ऊर्जा की आवश्यकता होती है।

ऊर्जा के मुख्यतः दो स्रोत हैं -

१. परम्परागत एवं २. गैरपरम्परागत ।

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है - स्वामी दयानन्द के इस उद्घोष एवं महर्षि मनु द्वारा कहे गए - **सर्वज्ञानमयो हि सः**[३], **सर्वम् वेदात्**

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, बामनवास, सवाईमाधोपुर, राज.**

[२] पाणिनीय धातुपाठ - चुरादिगण १६२०

[३] मनुस्मृति - २.७

प्रसिद्ध्यति[४] इत्यादि वाक्यों के आलोक में जब वेदों का अध्ययन किया जाता है, तो वहाँ ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों का स्पष्टत: उल्लेख प्राप्त होता है। ऊर्जा के उल्लिखित स्रोतों में वायवीय ऊर्जा का विशेष महत्त्व है। यही ऊर्जा सृष्टि के प्राण का आधार है। ऋग्वेद में इसके विभिन्न कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। यही वायु अग्नि अथवा जल अथवा दोनों के साथ संयुक्त होकर और भी अधिक ऊर्जा को उत्पन्न करने वाली हो जाती है।

प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में वायु का अत्यन्त विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। उनके अनुसार वायु अन्तरिक्ष स्थानीय देवता है।[५] प्रजापति के प्राण से वायु तत्त्व की सृष्टि हुई है।[६] वायु से ही सभी प्राणियों की पूर्णता है।[७] दीर्घायुष्य प्रदान करना इनकी विशेषता है। अमृतत्त्व की अक्षय शक्ति वायु में विद्यमान है। वायु को देवताओं में ओजिष्ठ कहा गया है।[८] यह समस्त देवताओं की आत्मा है।[९] यह देवों में शीघ्रगामी है।[१०] इसका प्रवाह तिर्यग्गति युक्त होता है।[११]

ऋग्वेद में वायु ऊर्जा का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है। इसके अनेक गुणों को इस प्रकार से समझा जा सकता है-

वायु ऊर्जा ही वाणी की कारक है। पाणिनीय शिक्षा के अनुसार

---

[४] मनुस्मृति - १२.९७

[५] वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः (निरु. ७.५)

अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम् (जैमि. ब्रा ३.२५२)

[६] प्राणाद्वायुरजायत (ऋ.१०.९०.१३)

[७] एष हि सर्वेषां भूतानामाशिष्ठः (शत.ब्रा.८.४.१.९)

[८] वायुर्वै देवानामोजिष्ठः क्षेपिष्ठः (मैत्रा.सं. २.५.१)

[९] सर्वेषामु हैष देवानामात्मा यद्वायुः (शत.ब्रा. ९.१.२.३८)

[१०] वायुर्वै देवानामाशुः सारसारितमः (तैत्ति.सं. ३.८.७.१)

[११] अयं वायुरस्मिन्नन्तरिक्षे तिर्यङ् पवते (जैमि.ब्रा. ३.३१०)

आत्मा व बुद्धि के साथ मन की प्रेरणा से ही प्रेरित वायु उर:स्थल में गति करता हुआ स्वर को उत्पन्न करता है।[१२] यह जब आकाश के संयोग से उत्पन्न होते हुए नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ मुख को प्राप्त होता है, तो नाद कहलाता है तथा कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त होता हुआ जब वर्णभाव को प्राप्त करता है, तो शब्द कहलाता है। इसकी उपस्थिति में ही श्रोता उस उच्चरित शब्द को सुनने का सामर्थ्य प्राप्त करता है।[१३]

सूर्य और वायु के संयोग के कारण सभी प्राणी अन्न आदि तृप्ति करने वाले पदार्थों के सुखों को प्राप्त करते हैं।[१४] इस वायु की ऊर्जा के फलस्वरूप ही शरीरधारी सभी जीव व उनका प्राणवायु उस शरीर में सब धातुओं के रस को उत्पन्न करके उसके धारण, पालन, वृद्धि एवं क्षय के साथ सब अंगों को पुष्ट करता है।[१५]

स्पर्श गुणों से युक्त व गतिशील यह वायु ही अग्नि (ऊर्जा) के साथ संयुक्त होकर सभी स्थानों पर गुणयुक्त पदार्थों की वृद्धि करता है।[१६] इसके सामर्थ्य को मन के वेग के समान वेग वाला स्वीकार किया गया है,[१७] जो कि दिविस्पर्शा अर्थात् अन्तरिक्ष को स्पर्श करने योग्य, दिव्य गुण वाले विमानों को वहाँ पहुंचाने की शक्ति से युक्त है।[१८]

वायु के लिए ऋग्वेद में अनेकानेक विशेषणों का प्रयोग हुआ

---

[१२] आत्म-बुदया... पाणिनीय शिक्षा ६-७

[१३] वर्णोच्चारण शिक्षा - स्वामी दयानन्द सरस्वती -१

[१४] ऋग्वेद १.२.४

[१५] ऋग्वेद १.२.६

[१६] ऋग्वेद १.१४.१०

[१७] ऋग्वेद १.२३.३ मनोजुवा

[१८] ऋग्वेद १.२३.२

है। यथा-**जवः, नियुत्वता** (अनेक घोड़ों से युक्त तीव्रगति का द्योतक)।[१९] ऋग्वेद कहता है कि यह वायु ही सब के आधारभूत जगत् में पदार्थों को इधर से उधर पहुंचाने वालों में सबसे अधिक क्रियाशील है। यही अग्नि तथा जल आदि पदार्थों का वाहक है[२०] तथा नदियों में जल को बहाने वाला है।[२१] यह वायु ही मेघों से परिपूतः अर्थात् सब ओर से व्याप्त है और यही मेघों को भी सब ओर से व्याप्त करता है।[२२]

ऋग्वेद स्पष्ट शब्दों में कहता है कि जो वायु के असंख्यात वेगादि गुणों वाले रमणीय यान हैं, उनके साथ नियमपूर्वक ओषधि सेवन के लिए आइए अर्थात् सभी मनुष्यों को वायु के इन गुणों से भलीभाँति परिचय प्राप्त कर इन गुणों को अपने दैनन्दिन व्यवहार में उपयोग करना सीखना चाहिए।[२३] यह वायु सतत सुखाने की वृत्ति वाला, वृक्षों को रस युक्त करने वाला तथा निरन्तर गति करने वाला है।[२४]

इन्द्रसारथिः अर्थात् बिजली या अग्निरूप सारथी वाला यह वायु बल से युक्त होकर असंख्य अभीष्ट क्रियाओं को सम्पादित करने में समर्थ होता है।[२५] अग्नि एवं वायु के संयोग से विद्वान् मनुष्य असंख्य प्रायः अर्थात् मनोहर कार्यों को सम्पन्न करने में सक्षम होते हैं।[२६] सुवर्णबन्धन से युक्त तथा नष्ट न होने वाली उत्तम क्रिया वाले ये दोनों **दिविस्पृशम् रथम्**

---

[१९] ऋग्वेद १.१३४.१

[२०] ऋग्वेद १.१३४.३

[२१] ऋग्वेद १.१३४.४

[२२] ऋग्वेद १.१३५.२

[२३] ऋग्वेद २.४१.१

[२४] ऋग्वेद २.४१.२

[२५] ऋग्वेद ४.४६.२

[२६] ऋग्वेद ४.४६.३

अर्थात् आकाशगामी यानों का निर्माण करने वाले होते हैं।[२७] इन दोनों का संयोग **पृथुपाजसा** अर्थात् विस्तीर्ण बलयुक्त वाहनों को गति देने में सक्षम होता है।[२८] ये दोनों **सजोषसा** अर्थात् एक दूसरे को शक्ति सम्पन्न करते हुए श्रेष्ठ पदार्थों को बढ़ाने वाले हैं।[२९] यह वायु **दिविष्टिषु** अर्थात् अन्तरिक्ष में वेग सम्पन्न होकर अवस्थित है।[३०] यज्ञ को सम्पन्न करने वाले, यज्ञ के प्रमुख तत्त्व के रूप में ये दोनों **पुरुस्पृहः** अर्थात् सर्वाधिक ईप्सित तत्त्व हैं।[३१] नियमों में बंधी हुई गति से युक्त वायु अग्नि के सारथित्व में सुवर्णजड़ित, आनन्द प्रदान करने वाले रथ से इस जगत् को आनन्दित करते हुए परिभ्रमण करते हैं।[३२]

जिस प्रकार से आकर्षण बल के द्वारा एक दूसरे को नियमित करने वाले सम्पूर्ण लोक अन्तरिक्ष में नियमपूर्वक गति करते हैं, उसी प्रकार आनन्दित करने वाले वेग से यह वायु भी परिभ्रमण करता है।[३३] यह वायु असंख्य प्रकार के असंख्य बल से युक्त होकर प्राणिमात्र को पोषण प्रदान करता है।[३४]

यह वायु अन्नों के रसों को आनन्दित करने वाला अर्थात् बढ़ाने वाला है। यह नियमपूर्वक अबाधगति से सर्वत्र विचरण करने वाला है।[३५]

---

[२७] ऋग्वेद ४.४६.४

[२८] ऋग्वेद ४.४६.५

[२९] ऋग्वेद ४.४६.६

[३०] ऋग्वेद ४.४७.१

[३१] ऋग्वेद ४.४७.४

[३२] ऋग्वेद ४.४९.२

[३३] ऋग्वेद ४.४८.३

[३४] ऋग्वेद ४.४८.५

[३५] ऋग्वेद ७.९०.१

यह वायु द्युलोक और पृथ्वीलोक में ऐश्वर्य को उत्पन्न करने वाला है। यह दिव्य शक्ति को धारण करने वाला है। यह नियमित परिभ्रमण के द्वारा दरिद्रता को दूर करने वाला तथा पवित्र धनों को उत्पन्न करने वाला है।[३६] इसके परिभ्रमण के कारण ही आनन्दप्रद प्रभात काल के साथ ही सुन्दर दिन भी संकटरहित होकर व्यतीत होते हैं। इसके सहयोग से ही द्युलोक जलों की वृष्टि करते हैं।[३७]

इन्द्र अर्थात् विद्युत् से सम्पृक्त वायु ही ऐश्वर्य से युक्त होता है। इनके संयोग से निर्मित यान वीरता को प्राप्त करते हैं। वे मन की गति से प्रदीप्त होते हुए उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं। इस मन्त्र के भावार्थ को स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि हे मनुष्यों! विद्युत् विद्या के जानने वाले तथा वायु आदि सूक्ष्म तत्त्वों के जानने वाले विद्वान् जिन यानों को बनाते हैं, वे यान उत्तम से उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं और वीर लोगों को नभोमण्डल में ले जाने वाले एकमात्र वही यान कहला सकते हैं, अन्य नहीं।[३८] इन दोनों की संयुक्त शक्ति को जानने वाले विद्वान् लोग ही ऐश्वर्य सम्पन्न हो सकते हैं। वे ही गौओं, अश्वों व प्रभूत धनों से युक्त होते हुए, देदीप्यमान स्वर्ण आदि रत्नों को धारण करते हैं तथा युद्धों में शत्रुओं को परास्त करते हुए, वीर सन्तानों सहित पूर्ण आयु को प्राप्त करते हैं।[३९] अपनी रक्षा के निमित्त बल की इच्छा करते हुए, अन्नादि पदार्थों की चाह रखते हुए, कर्मयोगियों को श्रेष्ठ कल्याणकारी वचनों से इन्द्र एवं वायु की प्रार्थना करनी चाहिए अर्थात् इनके गुणों को

---

[३६] ऋग्वेद ७.९०.३

[३७] ऋग्वेद ७.९०.४

[३८] ऋग्वेद ७.९०.५

[३९] ऋग्वेद ७.९०.६

जानते हुए तद् अनुरूप कार्य में इनका अनुप्रयोग करना चाहिए।[४०]

यह वायु सैकड़ों, हजारों शक्तियों से सम्पन्न होकर इस सृष्टि यज्ञ में विद्यमान है। यह इस सृष्टि यज्ञ में आनन्द को बढ़ाने वाला है।[४१] मरुद् वायु शक्ति के द्वारा ही यानारूढ़ होकर वर्षा करते हैं, व इसकी शक्ति से पर्वतों को भी कँपा देते हैं।[४२] यह वायु अपने रथयोग्य घोड़ों को रथ में जोड़कर संग्राम में प्रयोग करता हुआ अन्ततः विजय के मधुर रस का पान करता है।[४३] यह ईश्वर के ऋत नियमों का पालन करने वाला व इस सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य का निर्माण करने वाला है।[४४] विविध अभ्युदयों की कामना रखने वाले मनुष्य को इसका यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।[४५] यह कल्याणकारी वायु द्युलोक में परिभ्रमण करता है।[४६] यह वायु भूलोक को आनन्दित करने वाला, अग्रगामी व अपने मन के समान गति वाला होकर अन्नों को, जलों को, प्रजा के उत्साह को बढ़ाने वाला है।[४७]

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि हे वायो! आप हमारे महान् विस्तार के लिए, यज्ञ के लिए, बल के लिए हमारे यहाँ आएं। आप बहुत अधिक एवं महान् वस्तुओं को देने वाले हैं।[४८] यह वायु सम्पूर्ण सृष्टि में

---

[४०] ऋग्वेद ७.९०.७

[४१] ऋग्वेद ७.९२.५

[४२] ऋग्वेद ८.७.४

[४३] ऋग्वेद ८.२६.२०

[४४] ऋग्वेद ८.२६.२१

[४५] ऋग्वेद ८.२६.२२

[४६] ऋग्वेद ८.२६.२३

[४७] ऋग्वेद ८.२६.२५

[४८] ऋग्वेद ८.४६.२५

विद्यमान है। यह प्राणियों की इन्द्रियों में व्याप्त होकर विद्यमान है।[४९] यह ओषधियों में व उन ओषधियों का सेवन करने वाले प्राणियों में भी विद्यमान है। वह **सुक्रतुः** अर्थात् शुभकर्मों का प्रेरक, व्यवहार कुशल, मनुष्यों में श्रेष्ठ कर्म की प्रवृत्ति का हेतु है।[५०]

यह वायु स्तुत्य एवं आश्चर्यजनक प्रपञ्च में अध्यक्षवत् विराजमान है। यह तीव्र गति की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित, अनुराग की प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित व आनन्द प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर नित्य क्रियाशील है।[५१] यह वायु द्युलोक को स्पर्श करने वाले सृष्टि यज्ञों में श्रेष्ठ मन से अर्थात् पूर्ण श्रेष्ठता के साथ उपस्थित रहता है।[५२]

श्रेष्ठ विज्ञान को जानने वाले लोग सूर्य की किरणों के आश्रय से इन्द्र अर्थात् विद्युत् एवं वायु के साथ मिलकर बड़े बड़े वैज्ञानिक कार्यों को सिद्ध करने में सक्षम होते हैं।[५३] वह परमात्मा ही आनन्ददायक जल से युक्त वायु को उत्पन्न करता है।[५४] वह परमात्मा ही वायु के द्वारा अन्तरिक्ष को वर्षणशील बनाता है तथा विद्युत् के आन्तरिक सूक्ष्म स्थलों में विद्यमान रहता है।[५५] यह वायु अत्यन्त वेग वाला व स्वेच्छाचारी गमन करने वाला है।[५६] यही यज्ञादि कर्मों को सम्पादित कराने वाला है।[५७]

---

[४९] ऋग्वेद ८.४६.२६
[५०] ऋग्वेद ८.४६.२७
[५१] ऋग्वेद ८.४६.२८
[५२] ऋग्वेद ८.१०१.९
[५३] ऋग्वेद ९.६१.८
[५४] ऋग्वेद ९.६७.१८
[५५] ऋग्वेद ९.८४.४
[५६] ऋग्वेद ९.८८.३

श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि वे गतिमान्, वेगयुक्त, सृष्टि के धारक, पोषक वायु तत्त्व के मित्रत्व को प्राप्त करें अर्थात् उनके आन्तरिक गुणों को जानें।[५८] यह वायु ही चन्द्रमा का, ओषधियों का रक्षक है। यही संवत्सर के मासों का कर्ता है।[५९] यह वायु ही सभी देवों का हितकारी है, जलों की रक्षा करने वाला व उनका पोषक है, यही यज्ञ की रक्षा करने वाला व श्रेष्ठ अन्न को प्रदान करने वाला, उत्तम दिवस व रात्रि को बनाने वाला तथा आकाश मार्ग में शब्द को दूसरे को सुनाने वाला है।[६०] इसका **शतधारम्** विशेषण इसके सैकड़ों प्रकारों की ओर इंगित करता है।[६१] सूर्य के द्वारा वैद्युताग्नि के सहयोग से जब अपने रश्मि जाल से जलों को पिया जाता है, तब वायु सूर्य के लिए उन समस्त रसों को ग्रहण कर उनका उपमन्थन करता है।[६२]

ऋग्वेद की दशम मण्डल का १६८वाँ सूक्त इसकी सर्वशक्तिमत्ता का विस्तार से वर्णन करता है। वह कहता है कि रंहणशील वायु का शब्दघोष घरघराता हुआ, स्थावर जंगम को तोड़ता हुआ, आकाश को छूता हुआ, दिगन्तरों को अरुणिम करता हुआ, पृथ्वी के धूलिकणों को फेंकता हुआ आगे बढ़ता है।[६३] समस्त वृक्ष वनस्पति वायु के अनुरूप ही बढ़ते हैं, संग्राम में जाने वाले अश्वों के समान बिजलियाँ इसको प्राप्त

---

[५७] ऋग्वेद ९.९७.४२

[५८] ऋग्वेद १०.६४.७

[५९] ऋग्वेद १०.८५.५

[६०] ऋग्वेद १०.९२.१३

[६१] ऋग्वेद १०.१०७.४

[६२] ऋग्वेद १०.१३६.७

[६३] ऋग्वेद १०.१६८.१

होती हैं। इन बिजलियों से संयुक्त हुआ, समस्त लोक के राजा के समान यह वायु वेगपूर्वक चलायमान रहता है।[६४] अन्तरिक्ष में विद्यमान मार्गों से भ्रमण करता हुआ यह वायु अहर्निश गमनशील है, यह जलों का मित्र, प्रथमोत्पन्न, ऋतभूत तथा सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके अवस्थित है।[६५] यह समस्त इन्द्रादि देवों का आत्मा, सम्पूर्ण भुवन को धारण करने वाला, दिव्यगुणयुक्त, यथेच्छ परिभ्रमण करने वाला है। इसके घोष ही सुनाई पड़ते हैं, यह स्वरूप से दिखाई नहीं देता है। इसके पोषण के लिए यज्ञ कर्म करना चाहिए।[६६]

ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त भी इसके स्वरूप एवं प्रशंसा को ही समर्पित है। इसकी महिमा का गुणगान करते हुए ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि यह वायु ही प्राणियों के लिए कल्याणकारी व आनन्ददायी ओषधियों को प्राप्त कराने वाला है। यही आयु को बढ़ाने हारा है।[६७] यही हमारा पालक है, बन्धुवत् हमारा भरण-पोषण करने वाला है और मित्रवत् कल्याणकारी है। यही हमें जीवन प्रदान करने वाला है।[६८] इस वायु के घर अन्तरिक्ष में जो ईश्वर द्वारा प्रदत्त अमृतत्त्व की निधि स्थापित है, उससे ही यह हमें जीवित रहने के लिए जीवन तत्त्व प्रदान करता है।[६९]

---

[६४] ऋग्वेद १०.१६८.२

[६५] ऋग्वेद १०.१६८.३

[६६] ऋग्वेद १०.१६८.४

[६७] ऋग्वेद १०.१८६.१

[६८] ऋग्वेद १०.१८६.२

[६९] ऋग्वेद १०.१८६.३

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani८६@gmail.com